जनसंख्या विस्फोट -एक चुनौती

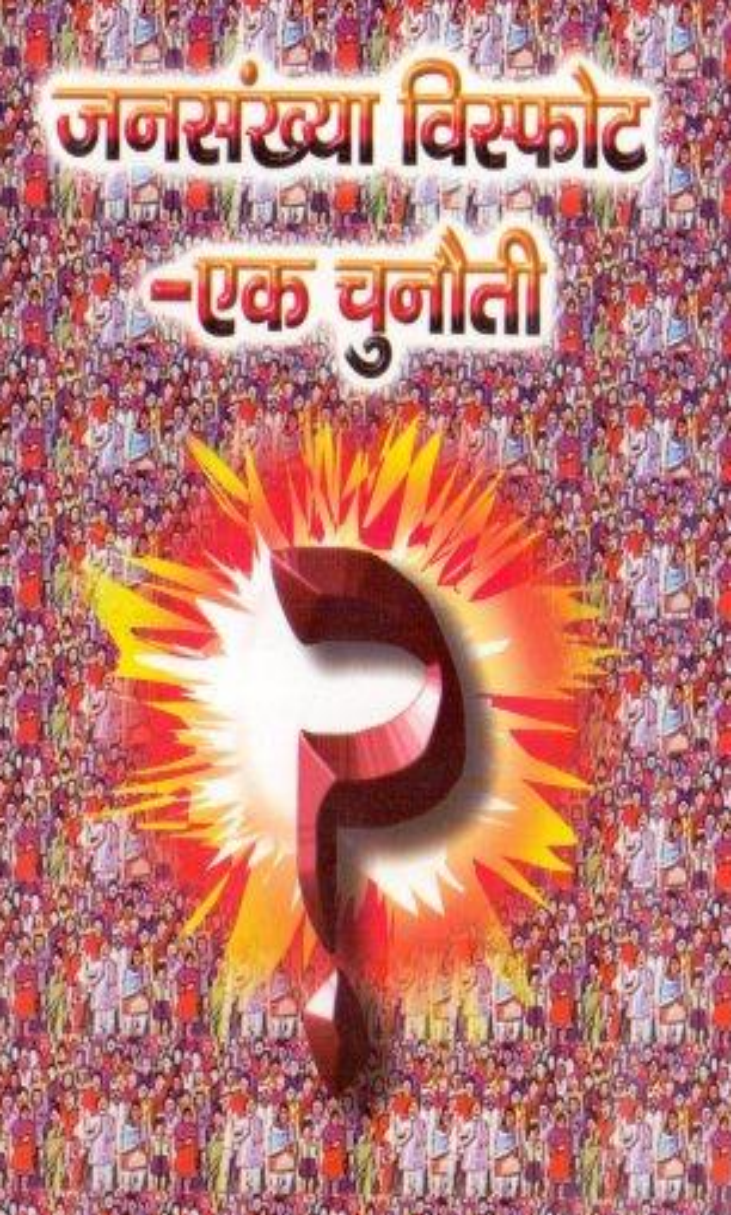

जनसंख्या विस्फोट-
एक चुनौती

संकलन एवं संपादन :
विचार क्रांति अभियान विभाग
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

२०१०

मूल्य : १२.०० रुपये

अनुक्रमणिका

१.	संतान की अविवेकपूर्ण आकांक्षा	५
२.	जनसंख्या वृद्धि का रोका जाना अति आवश्यक	११
३.	संतान कितनी और क्यों पैदा करें ?	१८
४.	जनसंख्या की वृद्धि रुकनी ही चाहिए	२१
५.	संतानोत्पादन को निरुत्साहित किया जाए	२७
६.	संतान की संख्या बढ़ाना अत्यंत घातक	३३
७.	छोटा परिवार सुखी परिवार	३८
८.	संतानोत्पादन का दायित्व समझबूझ कर उठाएँ	४४
९.	बदलती परिस्थितियों में विचार भी बदलें	५०
१०.	स्वर्ग सीमित परिवार वालों को मिलेगा	५५
११.	जनसंख्या वृद्धि का भयावह दृश्य एवं हमारे प्रयास	६०

आत्मनिवेदन

वर्तमान समय में भारत की जनसंख्या विस्फोट की स्थिति में है। एक वर्ष में तीन करोड़ की वृद्धि अत्यंत सोचनीय है। जनसंख्या वृद्धि की दर जीवंत–जाग्रत, बुद्धिमान–मनीषियों एवं विभूतिवानों के लिए एक चुनौती है, जिसे उन्हें स्वीकार करना ही पड़ेगा अन्यथा उन्हें भावी पीढ़ी के कोप का भाजन बनना पड़ेगा। जिम्मेदारी अंततः मूर्धन्यों पर ही आती है। चोरी कोई भी करे, लेकिन पहरेदार जिम्मेदारी से बच नहीं सकता। राष्ट्र के सजग प्रहरी साहित्यकार, धनवान, राजनेता, प्रतिभावान एवं कलाकारों को अपनी विभूतियों का नियोजन राष्ट्र की इस सबसे प्रमुख समस्या के निदान कराने में करना चाहिए और उसके निराकरण के लिए सार्थक प्रयास तुरंत प्रारंभ कर देने चाहिए अन्यथा आने वाली पीढ़ी यही कहेगी कि हमारे पूर्वज थे तो बुद्धिमान, लेकिन जनसंख्या विस्फोट की घातक समस्या का समाधान करने में असफल और

असमर्थ ही सिद्ध हुए। इस लांछन और प्रताड़ना से बचने के लिए मूर्धन्यों को समय रहते सचेत हो जाना चाहिए।

विवाह योग्य युवक–युवतियों अथवा प्रजनन में उत्साही दंपतियों को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए। सभी पाठक बंधुओं से निवेदन है कि इस पुस्तक का यथाशक्ति प्रचार–प्रसार करें। इन विचारों को भाषण, गोष्ठी, वार्तालाप एवं नेक सलाह के रूप में युवाओं तक पहुँचाने का प्रयास करें। युवाओं को यह पुस्तक पढ़ने की प्रेरणा प्रदान करें। विवाह के अवसर पर यह पुस्तक नव दंपत्ति को भेंट स्वरूप प्रदान करें। एक और निवेदन यह है कि देश में विभिन्न धर्म–संप्रदायों के कर्म गुरु एवं राजनैतिक दलों के राजनेता, जो जनसंख्या बढ़ाने, अधिक संतान पैदा करने की सिफारिश करते हैं, उन्हें अपने चिंतन को बदलने के लिए विवश किया जाए। आशा है यह पुस्तक मूर्खों के कुतर्कों को छोड़कर अन्य सभी विवेकवानों के प्रश्नों का तर्क, तथ्य एवं प्रमाणों के आधार पर समाधान करने में समर्थ होगी।

व्यवस्थापक

युग निर्माण योजना, मथुरा

संतान की अविवेकपूर्ण आकांक्षा

प्राचीनकाल की भिन्न परिस्थितियाँ :

समय के साथ मान्यताएँ भी बदलती रहनी चाहिए। उन्हें जिस देश–काल में प्रवर्तित किया जाता है, तब वे उस समय के अनुकूल तथा आवश्यक होती हैं, पर ज्यों–ज्यों परिस्थितियाँ बदलती जाती हैं, उनकी उपयोगिता घटती जाती है और धीरे–धीरे व्यर्थ बन जाती हैं। ऐसा होने पर भी जब उन्हें समय के अनुसार बदला नहीं जाता है, तब वे सामाजिक रूढ़ि बनकर एक बंधन के रूप में बदल जाती हैं, समाज की प्रगति में बाधक बनती हैं और अनेक प्रकार से हानिकारक सिद्ध होती हैं।

संभव है कभी यह मान्यता रही हो कि विवाह की सफलता तथा सार्थकता संतान होने में ही है। यदि विवाह होने पर संतानों की उत्पत्ति नहीं हो पाती, तो वह विवाह, दांपत्य जीवन असफल समझा जाता था। बहुत संतान होना सौभाग्य का लक्षण माना जाता था। कहना न होगा कि जब यह मान्यता रही होगी, तब सामाजिक तथा पारिवारिक दृष्टि से इसकी आवश्यकता एवं उपयोगिता रही होगी। ऐसा न मानने अथवा न करने से समाज को हानि की संभावना रहती होगी। उस समय यह मान्यता समाज के विकास तथा प्रगति में सहायक होती होगी।

उस समय इस मान्यता का कारण क्या रहा होगा, इस पर विचार करने से यही समझ में आता है कि उस समय पर जनसंख्या की बहुत कमी थी। भूमि तथा साधन अधिक थे। संसार सूना और बीहड़ दीखता था। साथ ही उस समय एक परिवार के अधिक व्यक्ति मिलकर, दूसरे कम संख्या वाले परिवार को दबा कर उस पर शासन करते थे। उस युग में अधिक संतान उपयोगी थी। उस पारिवारिक सेना से आस–

पास प्रभाव बढ़ाया जा सकता था, दूसरे का बढ़ता हुआ दबाव रोका जा सकता था। उस समय उर्वरा भूमि वन–पठारों के रूप में योजनों तक बेकार पड़ी थी। उसका उपयोग करने के लिए जनसंख्या की कमी थी। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक ही था कि लोग अपने लिए अधिकाधिक बेटे, पोतों, भाई–भतीजों की कामना करते। परिवार बड़ा हो, खूब बच्चे हों, जिससे परिवार का प्रसार हो, अधिक से अधिक भूमि पर अधिकार हो तथा प्रभाव बढ़े, ऐसा सोचा जाना उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल ही था और लोग वैसा सोचते भी थे और करते भी थे।

जीवन संघर्ष में विजय उसकी ही होती थी, जिसके पास आदमियों की संख्या अधिक होती थी। उस समय जनबल ही सबसे प्रबल शक्ति थी। युद्ध के आज जैसे विकसित साधन न थे। इस प्रकार सुरक्षा, धर्म–प्रसार, जातीय संघर्षों के विषय, शिक्षा तथा विवेक की कमी और भोजन की यथेष्ठता आदि ऐसे कारण थे, जिससे बहुसंतान की मान्यता कोई अर्थ रखती थी और यह मान्यता एक ऐसी धारणा में बदल गई, जिससे कि संतानों का होना ही विवाह की सफलता समझा जाने लगा। जिसके अधिक संतानें होती थीं, वह उतना ही अधिक भाग्यवान माना जाता था और समाज में उसकी प्रतिष्ठा रहती थी। वही पूर्वकालिक मान्यता रूढ़ि बनकर आज तक समाज में चली आ रही है और लोग संतान न होना दुर्भाग्य का चिह्न मानते हैं, किंतु इसकी आज क्या उपयोगिता हो सकती है ? आज तो कम से कम संतान और संतान न होना सौभाग्य का चिह्न माना जाना चाहिए और विवेकशील व्यक्ति ऐसा मानते भी हैं। संसार की मान्यता बदलती जा रही है। संतानोत्पादन का विरोध होने लगा है, इसलिए हर व्यक्ति को अपने मस्तिष्क से यह भ्रांत, निरूपयोगी तथा हानिकारक मान्यता निकाल ही देनी चाहिए।

जहाँ पहले जनसंख्या की कमी और साधनों की प्रचुरता थी, वहाँ आज जनसंख्या की अपार वृद्धि तथा जीवन साधनों की बड़ी कमी होती जा रही है। प्राचीनकाल की तरह वर्ग संघर्ष

का वैसा भय नहीं रहा है और न जातीय युद्धों की कोई संभावना रह गई है। आज तो संसार अनेकता से एकता की ओर बढ़ रहा है, द्वैत से अद्वैत की ओर अग्रसर हो रहा है। विवेकशील व्यक्ति विश्व–समाज, विश्व विचार, विश्व–दर्शन, विश्व–धर्म, विश्व–राष्ट्र, विश्व–आधार, विश्व–विचार, विश्व–परिवार, विश्व–समृद्धि, विश्व–भ्रातृत्व, विश्व–भाषा और एक विश्व–भाव की दृष्टि से सोचने लगे हैं। ऐसे प्रगतिशील युग में अपनी वैयक्तिक शक्ति अथवा कबायली जनबल बढ़ाने के लिए संतान की कामना करना सड़ी–गली पुरानी विचारधारा तथा मान्यता है, जो छोड़ दी जानी चाहिए। जनसंख्या की अनियंत्रित वृद्धि के कारण संसार पर भुखमरी का संकट तीव्र गति से बढ़ता जा रहा है।

संतान संबंधी प्राचीन मान्यता आज के युग के ठीक प्रतिकूल है। आज उसका न कोई औचित्य ही हैं और न उपयोग ही। आज इस बात की अनिवार्य आवश्यकता है कि समाज के पुराने सोचने–विचारने के गलत ढंग को रोक दिया जाए और उसे स्वस्थ, सृजनात्मक, कल्याणकारी और देश के लिए उपयोगी दिशाओं में सोचने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। बहुत कम संतान अच्छी होती हैं। जल्दी संतान होना सौभाग्य का लक्षण है, संतान जरूर ही हो, यह सब मूर्खतापूर्ण मान्यताएँ हैं, थोथी और गलत विचारणाएँ हैं, आज इनको न बदलने से हानि ही हानि है। जो पुराने अल्पज्ञ मूर्ख लोग आज भी इस सड़ी–गली मान्यता को महत्त्व दे रहे हैं, वे युग के प्रतिकूल काम कर रहे हैं। ऐसे लोगों की समाज द्वारा भर्त्सना होनी चाहिए और उनकी बात को जरा भी महत्त्व नहीं देना चाहिए। संतानों संबंधी प्राचीन विचार–प्रवाह में बढ़ते चले जाने वाले लोगों को आज की विश्व स्थिति पर नजर डाल लेनी चाहिए। ऐसा करने से निश्चय ही उसके मस्तिष्क से यह भ्रांत धारणा निकल जाएगी।

भविष्य की विभीषिकाओं से सावधान :

विश्व विख्यात लंदन के जनसंख्या विशेषज्ञ श्री हर्मन वेरी ने संसार को सावधान करते हुए लिखा है–''आगामी सन्

२०५० में संसार की हालत महाप्रलय से भी बुरी हो जाएगी। कारण यह है कि बढ़ते–बढ़ते उस समय तक संसार की आबादी लगभग २० अरब हो जाएगी। तब धरती पर न तो इतने लोगों के लिए पर्याप्त भोजन मिल सकेगा, न शुद्ध वायु, न पानी, न बिजली। मनुष्यों के निवास के लिए जो मकाने होंगे, उनमें केवल खड़े रहने भर को जगह मिल सकेगी। आबादी की वृद्धि के कारण जानवरों का नाम निशान तक मिट जाएगा, क्योंकि जब मनुष्यों के निवास और खाने के लिए धरती की शक्ति काफी न होगी, तब पशुओं को उसमें कौन हिस्सा बाँटने देगा? लोग उन्हें पहले ही मारकाट कर चट कर जाएँगे। आगामी कुछ वर्षों में प्रकृति का सारा ईंधन भंडार समाप्त हो जाएगा। प्रकृति को जितना ईंधन पैदा करने में पच्चीस करोड़ वर्ष लगे हैं, बढ़ती हुई आबादी और उसकी वर्तमान आवश्यकताएँ उसे दो सौ पचास वर्षों के भीतर समाप्त कर डालेंगी। अणुशक्ति से उत्पादन की बात सोची जा रही है, पर उसे उत्पन्न करने के भी साधन पृथ्वी पर सीमित ही हैं और वे भी कुछ दिन में खत्म हो जाएँगे। धातुओं का भंडार तब तक चुक जाएगा। अनेक स्थान तो ऐसे होंगे, जहाँ एक–एक बूँद पानी के लिए लोगों को तरसना पड़ेगा। ईसा से दस हजार साल पहले दुनियाँ की आबादी केवल दस लाख थी, पर वही बढ़कर आज छः अरब से अधिक हो चुकी है। इस हिसाब से २०५० में दुनियाँ की आबादी २० अरब हो जाएगी। तब प्रति व्यक्ति को केवल चलने–फिरने और उठने–बैठने के लिए एक वर्गमीटर जमीन हिस्से में मिल सकेगी।''

भारत तथा उस जैसे कम विकसित देशों में उस आगामी महाप्रलय के लक्षण अभी से दृष्टिगोचर होने लगे हैं। स्थान–स्थान पर भुखमरी तथा पानी की कमी बढ़ती जा रही है। जन जीवन स्तर निम्न होता जा रहा है तथा केवल उलटा–सीधा पेट भर जाने भर की ही समस्या है, तब यह दशा हो रही है कि लोगों को पेट भर मोटा अनाज भी नहीं मिलता। यदि आबादी इसी गति से बढ़ती रही, तो देश में २०५० से बहुत पूर्व ही

महाप्रलय की लीला होने लगेगी। ये आँकड़े और सूचनाएँ भी यदि संतानोत्सुक लोगों की आँखें नहीं खोलतीं तो इसे न केवल देश का ही बल्कि मानवता का दुर्भाग्य माना जाएगा।

विवाह का उद्‌देश्य संतानोत्पादन नहीं :

विवाह मानव जीवन का एक सर्वोत्कृष्ट यज्ञ है। दो आत्माएँ अपना स्वतंत्र अस्तित्व खोकर परस्पर एक दूसरे में विलीन होती हैं और उस संगम से एक सम्मिलित शक्ति का अभिनव आविर्भाव होता है। देवताओं की साक्षी में अग्नि भगवान को मध्यस्थ बनाकर दो आत्माएँ अपने व्यक्तित्वों की अभिन्नता–स्वतंत्रता समाप्त करके एक सम्मिलित सत्ता का सृजन करती हैं। यह दो प्राणियों का भावनापूर्ण आध्यात्मिक विलय है। इस संबंध का उद्‌देश्य केवल जनसंख्या की वृद्धि मानना उसके मूलभूत भाव का हनन करना है। एकाकी मनुष्य अपूर्ण है। पति–पत्नी दोनों के संबंध से अपूर्ण व्यक्तित्वों की अभिन्नता–स्वतंत्रता समाप्त होकर एक सम्मिलित सत्ता का सृजन होता है। यह दो प्राणियों का भावनापूर्ण आध्यात्मिक विलय है। इस संबंध का उद्‌देश्य केवल जनसंख्या की वृद्धि मानना, उसके मूलभूत भाव का हनन करना है। एकाकी मनुष्य अपूर्ण है। पति–पत्नी दोनों के संबंध से एक पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण होता है। स्त्रियों और पुरुषों की अलग–अलग विशेषताएँ होती हैं। इन दोनों के समन्वय से वे अभाव दूर होते हैं, जिनके कारण मानसिक शांति, सांसारिक सुख–सुविधाओं का द्वार रुका पड़ा रहता है। वैयक्तिक, आत्मिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिए किए गए इस संबंध को केवल संतानोत्पादन का साधन मानना कहाँ तक ठीक हो सकता है ? जिस दिन से संतान होना प्रारंभ हो जाता है, क्या उसी दिन से मनुष्य की समस्याओं तथा कष्टों की वृद्धि प्रारंभ नहीं हो जाती ? क्या संतानों के पालन–पोषण की चिंता के कारण मानसिक तथा आत्मिक सुख–शांति का प्रयत्न पीछे नहीं पड़ जाता है ? जिनके संतानें हैं, उनके विषय में तो क्या कहा जा सकता है ? किंतु जिनके संतानें नहीं हैं, उन्हें किसी प्रकार

भी अपने को अभागा अथवा हेय स्थिति वाला नहीं समझना चाहिए। आज के समय में संतान न होना ही सौभाग्य का चिह्न माना जाएगा। जनसंख्या द्वारा संसार का संकट बढ़ाना, विवाह जैसे महान् यज्ञ का उद्देश्य किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

समाज सेवा का अलभ्य अवसर :

संतानों के दायित्व से मुक्त दंपत्ति को आत्मिक विकास, आध्यात्मिक साधना तथा समाज सेवा द्वारा परमार्थ का पुण्य कमा सकने का बहुत अवसर रहता है। ऐसे मुक्त व्यक्ति को संतान का तुच्छ तथा निरर्थक खेद छोड़कर समाज–सेवा में लग जाना चाहिए। समाज में ऐसे बच्चों की कमी नहीं है, जिनको प्रेमपूर्ण आश्रय की आवश्यकता है। किसी भी बच्चे को लेकर उसका समुचित पालन–पोषण कर माता–पिता का उदात्त कर्त्तव्य निभाया जा सकता है। यदि संतान मुक्त दंपत्ति, जन–वृद्धि की गलती करने वाले युगल की यह भूल उनकी किन्हीं संतानों को अपने आश्रय में लेकर हल्की करने लगें, तो नई पीढ़ी का तो नव निर्माण होगा ही साथ ही समाज में बहुत अधिक बंधुत्व–भाव का विकास होने लगेगा, जिससे मिलने वाली सुख शांति अनिर्वचनीय ही होगी। संतान–मुक्त दंपत्ति को भगवान के दिए हुए अवसर को परमार्थ कार्यों में उपयोग कर अपने जीवन को सफल तथा विवाह को सार्थक बनाना ही चाहिए।

इस प्रकार एक नहीं, न जाने कितने महापुरुषों ने केवल अपनी क्षमताएँ संसार की सेवा में लगाने के मंतव्य से विवाह और संतानों के चक्कर से अपने को बचाए रखा। एकाकी रहकर सेवा करने की अपेक्षा कहीं अच्छा है कि विवाह द्वारा दो स्त्री–पुरुष मिलकर समाज की सेवा करें, इससे जीवन में मधुरता या शक्ति की वृद्धि होगी।

जनसंख्या वृद्धि का रोका जाना अति आवश्यक

सारे विश्व में सबसे अधिक उत्पादन यदि किसी वस्तु का बढ़ रहा है, तो वह है–मनुष्य का उत्पादन। घड़ी में लगी सेकंड की सुई इधर टिक करती है, उधर संसार में कहीं न कहीं तीन बच्चे जन्म लेते हैं। एक सप्ताह गुजरता है, तब जनसंख्या के पुराने आँकड़ों में २० लाख शिशुओं की वृद्धि हो जाती है।

सृष्टि के आदिकाल से लेकर सन् १८३० तक सारी धरती की जनसंख्या कुल एक अरब हुई, पर इसके बाद से विज्ञान की प्रगति से होड़ लेती हुई जनसंख्या भी इतनी तेजी से बढ़ी कि अगली एक शताब्दी में ही वह दोगुनी अर्थात् २ अरब हो गई। इसके बाद तो वृद्धि और भी तीव्र हुई–१९३० के बाद कुल ३० वर्ष में ही आबादी ३ अरब हो गई। यदि इस क्रम को रोका न गया, तो सारा संसार एक बार विस्फोट के लिए तैयार होगा।

इस बेतहाशा वृद्धि को देखकर ही माल्थस को चिंता हुई थी और उन्होंने जनसंख्या पर एक सुविख्यात शोध कार्य किया, जो आज सारे विश्व में 'माल्थस का जनसंख्या सिद्धांत' (माल्थस थ्योरी) के नाम से प्रसिद्ध है। माल्थस ने जनसंख्या वृद्धि की गंभीरता का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है–"जनसंख्या गुणोत्तर क्रम (ज्योमेट्रिकल प्रोग्रेशन) की दर से अर्थात् १ से २, २ से ४, ४ से ८, ८ से १६, १६ से ३२, ३२ से ६४, ६४ से १२८ के हिसाब से बढ़ती है, जबकि उत्पादन समान्तर क्रम (अरिथमेटिक प्रोग्रेशन) अर्थात् १, २, ३, ४, ५, ६, ७, के हिसाब से बढ़ता है। इस हिसाब से पहले वर्ष १ व्यक्ति था, तब उसके उदर–

पोषण के लिए पर्याप्त था। तीसरे वर्ष व्यक्ति हो गए ८ पर अन्न उत्पादन की यूनिट ३ ही रही। पाँच व्यक्तियों के लिए अन्न का जो दबाव पड़ेगा, उसके लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, वस्त्र, मकान और मनोरंजन आदि के साधनों में कटौती करके भरण–पोषण की समस्या पूरी करनी पड़ेगी। प्रत्येक अगले वर्ष यह जटिलता बढ़ती ही जाएगी। ७ वर्ष बाद जहाँ खाने के लिए जनसंख्या १२८ होगी, वहाँ उत्पादन कुल ७ यूनिट ही होगा। तात्पर्य यह कि १२१ व्यक्ति बेरोजगारी, भुखमरी, बीमारी और निरक्षरता की समस्या से जन्मजात पीड़ित होंगे और वे सब मिलकर उनको असुरक्षा की समस्या से पीड़ित कर रहे होंगे। उत्पादन का यह अनुपात अन्न के क्षेत्र में ही नहीं, वस्त्र, आत्म–सुरक्षा और आत्म–विकास के क्षेत्र में भी होगा। इस तरह संकट प्रत्येक क्षेत्र में बढ़ेंगे। बेरोजगारी, भुखमरी, अशिक्षा और अनुशासनहीनता का यह स्वरूप आज स्पष्ट देखा जा सकता है।

इन आँकड़ों के आधार पर ही डॉ. वी. आर. सेन ने कहा था–"यह माना गया है कि संसार में तब तक स्थायी शांति और सुरक्षा कायम नहीं हो सकती, जब तक भुखमरी और अभाव को खत्म न कर दिया जाए। वस्तुतः व्यक्तियों का स्वास्थ्य और सुख ही नहीं, वरन् स्वतंत्र एवं लोकतंत्री समाज का अस्तित्व भी खतरे में है। या तो हम उत्पादकता बढ़ाने और जनसंख्या न बढ़ने देने के लिए सब संभव प्रयत्न कर लें अन्यथा हमें अभूतपूर्व रूप से विशाल विपत्ति का सामना करना होगा।"

यह कथन शेखचिल्ली के विवाह की कल्पना नहीं वरन् एक सत्य है, जो हमें आगामी दिनों किसी भयंकर विस्फोट के लिए तैयार रहने को सावधान करता है। प्रकृति के कोष में सीमित सामग्री है, वह असीमित लोगों के पेट नहीं भर सकती, इसलिए उसने एक सिद्धांत बना लिया है कि जो भी जातियाँ दीवाली में आतिशबाजी के साँप की तरह बढ़ती हैं, उनको नष्ट किया जाता रहे। मक्खी और मछलियाँ संसार में सबसे अधिक बच्चे पैदा करती हैं। यदि प्रकृति उनका संहार तेजी से न करती,

तो आज इन मक्खी और मछलियों के रहने के लिए १० करोड़ ऐसी ही धरतियों की आवश्यकता पड़ती, जैसी अपनी पृथ्वी है।

एक हाथी मरने से पूर्व केवल ६ हाथी पैदा कर जाता है। यदि प्रकृति उन पर नियंत्रण न करती, तो संसार में हाथी ही हाथी होते । आस्ट्रेलिया में खरगोश बहुतायत में पाए जाते हैं। वहाँ छोटे–छोटे गड्ढों में पानी के लिए ही उनमें भयंकर युद्ध होता है और यादवों की सेना की तरह आपसी रक्तपात में ही उनका विनाश होता रहता है।

मनुष्य भी ऐसे ही विनाश के कगार पर आ पहुँचा है। संसार में जो भी जातियाँ अधिक प्रजनन वाली रहीं, वह अविकसित और पददलित ही नहीं हुईं, नेस्तनाबूद भी हो गईं। योरोप में पाई जाने वाली 'डायनोसरस' और 'ब्रान्टोसरान' जातियाँ जिनके पहले राज्यों के राज्य बसे हुए थे, अब उनका एक भी आदमी संसार में देखने को नहीं मिलता। उनकी स्त्रियों को दूसरी समर्थ जातियों ने हड़प लिया और वे आपस में ही खाने–पहनने के नाम पर लड़–झगड़कर नष्ट हो गईं। 'जनसंख्या नहीं–समर्थता जिंदा रहती है' के सिद्धांत को इन उदाहरणों द्वारा अनुभव किया जा सकता है। वर्षों पहले युद्ध हुआ और इजरायल जिसकी जनसंख्या कुछ लाख ही थी, ने कई करोड़ अरबवासियों को ७ दिन में परास्त करके रख दिया।

सुअर सबसे अधिक बच्चे देने वाला जानवर है। उसे अपना उदर–पोषण घृणित साधनों से ही करना पड़ता है। दूसरी ओर शेर बहुत ही कम बच्चे देता है, उसकी शारीरिक क्षमता इतनी प्रचंड होती है कि जब दहाड़ता है, तो अगले पंजों से पृथ्वी को जकड़ लेता है, तब दहाड़ता है। किंवदंती है कि उसे आशंका रहती है कि मेरी दहाड़ से कहीं पृथ्वी न फट जाए। इस विशेष दहाड़ को 'नाकी' कहते हैं। जब वह दहाड़ भरता है, तो उस क्षेत्र के सारे पेड़–पौधे और पृथ्वी तक काँप जाती है। भारतीयों की संख्या तब थोड़ी ही थी, पर हमने संयमित और ब्रह्मचर्यपूर्ण जीवन के कारण वह शक्ति पाई थी कि जब हिमालय पर खड़े

होकर दहाड़ते थे, तो सारा एशिया काँप जाता था। हमारी वाहिनियाँ अमेरिका तक चली जाती थीं और जीतकर लौटती थीं। जो अधिक संतान वाली जातियाँ होती है, वे (१) जल्दी ही समाप्त हो जाती हैं, (२) कमजोर होती हैं, (३) अव्यवस्थित होती हैं, इसलिए ये संघर्ष और प्रतिस्पर्द्धा में सबसे पिछड़ी रहती हैं।

विकासवाद के जनक डार्विन के सिद्धांत 'स्ट्रगल फॉर एक्जिस्टेन्स' के अनुसार प्राणियों को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष में जो विजयी होते हैं, वे ही जीवित रहते हैं। बहुत पहले डार्विन ने एक बात कही थी, जिसे मनुष्येत्तर जीवों में प्रत्यक्ष रूप से सही उतरते देखा गया है। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" की रीति–नीति आदिम युग के मनुष्य की थी, पर जिस गति से विश्व की जनसंख्या बढ़ रही है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि अगले दिनों मनुष्य–मनुष्य के बीच जीवन–रक्षा के लिए संघर्ष का प्रत्यक्ष दृश्य देखना पड़ सकता है तथा आदिम मनुष्य पुनः अपनी हिंसक प्रवृत्तियों के साथ प्रकट हो सकता है।

सभ्यता की गति सुविकसित अवस्था से आदिम युग की ओर क्यों कर वापस मुड़ेगी ? कारण स्पष्ट है। प्रकृति के संसाधन सीमित हैं, पर उपभोगकर्त्ताओं की संख्या में असामान्य वृद्धि हो रही है। साधन सीमित और प्रयोगकर्त्ता असीम। ऐसी स्थिति में आवश्यक साधनों की प्राप्ति के लिए संघर्ष पैदा होगा। फलतः मनुष्य का आदिम स्वरूप पुनः प्रकट होगा। विश्व के मूर्धन्य विचारकों ने यह संभावना व्यक्त की है कि जनसंख्या बढ़ोत्तरी का क्रम निर्बाध गति से इसी प्रकार चलता रहा, तो निश्चित ही उपरोक्त परिस्थितियों का सामना करना पड़ सकता है।

परमाणु विभीषिका की तरह जनसंख्या वृद्धि की विस्फोटक स्थिति का पता आँकड़ों को देखने से चलता है। एक मिनट बीतते ही १५० शिशुओं का अवतरण हो जाता है। एक घंटे में नौ हजार तथा २४ घंटे में दो लाख सोलह हजार की संख्या

विश्व आबादी में जुड़ जाती है। एक वर्ष में सात करोड़ ७६ हजार अर्थात् लगभग तीन चौथाई बंगलादेश अथवा इंडोनेशिया की आबादी के बराबर का एक नया देश पैदा हो जाता है।

देश की वर्तमान स्थिति यह है कि पचास प्रतिशत से अधिक व्यक्तियों को जीवनयापन के अनिवार्य साधन रोटी, वस्त्र और आवास की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। अभी भी ७५ प्रतिशत जनता निरक्षरता के अभिशाप से ग्रस्त है। चिकित्सा एवं शिक्षा की समुचित व्यवस्था न होने से बच्चों का शारीरिक एवं मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। उन परिस्थितियों में देश की आबादी में हर वर्ष एक बड़ी संख्या और भी जुड़ती जाए, निस्संदेह यह चिंता की बात हागी। समय रहते जनसंख्या वृद्धि के कारणों की खोज करनी तथा रोकथाम के लिए हर संभव उपाय निकाला जाना चाहिए। दूसरे देशों ने अपने–अपने ढंग से आबादी बढ़ोत्तरी को रोकने के लिए प्रयास किए हैं आर इसमें उनको सफलता भी मिली है। आसन्न संकट और भी भयावह हो जाए, इसके पूर्व ही कारगर प्रयत्न किया जाना आवश्यक है।

प्रस्तुत समस्या के समाधान का एक सुझाव यह भी है कि लड़के–लड़कियों के विवाह की आयु सीमा बढ़ा दी जाए। चिकित्सकों का मत है कि लड़कियों की प्रजनन क्षमता सर्वाधिक १५ से २५ वर्ष तक होती है। अधिकांश महिलाएँ इस अवधि में तीन, चार बच्चों की माँ बन जाती हैं। २५ के बाद प्रजनन क्षमता घट जाती है। अपने देश के लगभग ५० प्रतिशत से भी अधिक लड़के–लड़कियों की शादी बाईस वर्ष की आयु तक पहुँचते–पहुँचते हो जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में यह अनुपात अधिक है। बाल विवाह की कुपरंपरा आज भी देश के विभिन्न भागों में विद्यमान है। राजस्थान में आज भी आधे से अधिक लड़के–लड़कियों का विवाह १५ वर्ष की आयु के पूर्व ही कर दिया जाता है। अपरिपक्व वय के किशोरों में जोश का आवेग तो रहता है, पर होश नहीं होता। अपरिपक्व मस्तिष्क उन हानियों पर विचार कर पाने में

असमर्थ होता है, जो अल्पायु में विवाह हो जाने से अपार क्षति पहुँचाते हैं। जब तक ऐसे दंपत्ति अपना भला–बुरा सोचने योग्य होते हैं, तब तक कितने ही बच्चों के असामयिक भार से दब चुके होते हैं। आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उनके साथ जीवन भर के लिए कितनी ही समस्याएँ जुड़ जाती हैं।

नैतिक दृष्टि से निर्धारित विवाह आयु यों लड़कों के लिए २५ वर्ष तथा लड़कियों के लिए २० वर्ष मानी जानी चाहिए, पर बहुत कम अभिभावक ही इन मर्यादाओं का पालन करते हैं। दहेज की कुप्रथा के कारण लड़कियों की किशोरावस्था में ही उनके अभिभावकों के मन में यह चिंता सवार हो जाती है कि शीघ्रातिशीघ्र किसी योग्य लड़के के साथ अपनी विवाह के अयोग्य लड़की का संबंध कर दिया जाए। दूसरी ओर लड़के के अभिभावक को मोटी रकम लेने का भूत सवार रहता है। वे लड़के का भविष्य नहीं सोचते। एक की विवशता दूसरे की लोभी प्रकृति, दोनों ही लड़के–लड़कियों के विवाह को प्रश्रय देते हैं। कानून के, नीति के निर्धारित नियम एक किनारे रखे रह जाते हैं और समाज की मनमर्जी चलती रहती है।

एक और मान्यता समाज में फैली हुई है कि लड़का होना सौभाग्य का चिह्न तथा लड़की पैदा होना दुर्भाग्य का द्योतक है। लड़की–लड़के के बीच भेदभाव करने, एक को कनिष्ठ तथा दूसरे को वरिष्ठ मानने की परंपरा भी इसी पर आधारित है। कितने ही व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो लड़कियों के होते हुए भी जनसंख्या इस कारण बढ़ाते जाते हैं कि उनके लड़के नहीं हैं। सफलता न मिलने पर वे दूसरी शादी रचाते और वे मूढ़ तब तक चैन नहीं लेते, जब तक कि लड़के का मुँह नहीं देख लेते। देश की आबादी में एक बड़ी संख्या इस भ्रांति के कारण भी प्रति वर्ष जुड़ती जाती है। वैचारिक आंदोलन द्वारा इन मूढ़ मान्यताओं को समाज से उखाड़ फेंकने के लिए भी प्रयत्न होना चाहिए।

जनसंख्या नियमन की अभीष्ट स्तर की शिक्षा का अभाव भी प्रस्तुत समस्या का एक कारण है। देश की सत्तर प्रतिशत

जनता अशिक्षित है तथा गाँवों में निवास करती है। शिक्षा के अभाव में मनुष्य चिंतन की दृष्टि से परावलंबी होता है। उसे अपना दूरगामी हानि–लाभ भी दिखाई नहीं पड़ता है। आँकड़े बताते हैं कि शिक्षितों की तुलना में अशिक्षितों में जनसंख्या वृद्धि की दर अपेक्षाकृत शहरों से अधिक होने का एक कारण यह है कि नगरों में मनोरंजन के अनेकानेक साधन हैं, जब कि गाँवों की स्थिति आज भी अत्यंत बदतर है। देखा जाए, तो सुदूर क्षेत्रों में भी सिनेमा, साहित्य, संगीत आदि लोकरंजन के श्रेष्ठ माध्यम हो सकते हैं, पर गाँवों में ये सुविधाएँ विकृत रूप में उपलब्ध हैं। फलतः पति–पत्नी की चेष्टाएँ शारीरिक धरातल पर काम तृप्ति द्वारा मनोरंजन की आवश्यकता पूरी करती हैं। यह क्षणिक आवेश अंततः प्रजनन की दुःखद प्रतिक्रिया, अनेक बच्चों का भार तथा सारे परिवार के गिरते स्वास्थ्य के रूप में प्रस्तुत होता है।

समझना, बताना ही पर्याप्त नहीं होता। समस्याओं के समाधान के लिए कड़ाई बरतना भी कभी–कभी आवश्यक हो जाता है। स्वेच्छापूर्वक हर व्यक्ति जनसंख्या की विभीषिका की गंभीरता को समझे, इसके लिए कितने ही देशों ने कारगर कदम उठाए हैं। चीन ने कानून पारित करके जनसंख्या रोकने में असाधारण सफलता पाई है। जो अधिक बच्चे पैदा करते हैं, उन्हें निर्धारित नियमों के अनुसार सरकार को भारी टैक्स अदा करना पड़ता है। उन कर्मचारियों का प्रमोशन, वेतन वृद्धि आदि रोक दी जाती है, जो प्रजनन का नियमन नहीं करते। दूसरे बालक के बाद जन्म लेने वाले हर अतिरिक्त बालक की समस्त सुविधाएँ छीन ली जाती हैं।

समाज एवं देश की प्रगति के लिए अनेकानेक योजनाएँ बन रही हैं तथा कार्यक्रम चल रहे हैं, पर उनकी सफलता तब तक संदिग्ध बनी रहेगी, जब तक कि जनसंख्या की बाढ़ को रोका नहीं जाएगा। हर समझदार व्यक्ति का यह कर्त्तव्य होता है कि वह प्रस्तुत संकट की गंभीरता को समझे और दूर करने के लिए व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों ही स्तरों पर प्रयास करे। ◘

संतान कितनी और क्यों पैदा करें ?

इन दिनों देश की जनसंख्या खतरे के चिह्न से आगे बढ़ गई है। हर मनुष्य के हिस्से में इतनी कम भूमि आती है, जिससे पर्याप्त अन्न उत्पादन के लिए सिर तोड़ परिश्रम करने पर भी विदेशों से कर्ज, उधार, बदले में अति आवश्यक वस्तुएँ देकर किसी प्रकार पेट पालना संभव होता है। अनाज की मँहगाई आकाश को छू रही है। दूध, घी देवताओं को दुर्लभ हो रहा है। चाय और डालडा से इन पदार्थों की स्मृति जिंदा है। जिस क्रम से आबादी बढ़ रही है, उसे देखते हुए अगले दिनों अन्न की कमी, मँहगाई, दूध–घी की दुर्लभता बढ़ेगी। मनुष्यों के लिए ही जब निवास व अन्न कठिन हो जाएगा, तो बेचारे पशु कहाँ रहेंगे, कैसे जिएँगे ?

पचास वर्ष पूर्व और आज की परिस्थिति में इस जनसंख्या की वृद्धि ने जमीन, आसमान जितना अंतर उत्पन्न कर दिया। यह क्रम चक्रवृद्धि क्रम से बढ़ रहा है। अस्तु, अगले दिनों यह विपन्नता और भी अधिक बढ़ेगी। उद्योग–धंधे, व्यापार, शिक्षा, सवारी आदि के साधन कितने ही बढ़ाए जाएँ, आबादी जिस तेजी से बढ़ रही है, उसे देखते हुए वे कम ही पड़ते चले जाएँगे और दरिद्रता से लेकर अव्यवस्था तक असंख्य समस्याएँ, बढ़ती और उलझती चली जाएँगी। निवास, बेरोजगारी और चिकित्सा की गुत्थियाँ अब भी पेचीदा हो रही हैं, अगले दिनों तो वे न सुलझने की स्थिति में जा पहुँचेंगी।

काम उतना ही हाथ में लेना चाहिए, जो ठीक तरह निवाहा जा सके। बच्चे उत्पन्न करना क्रीड़ा–विनोद मात्र नहीं है। उसके पीछे भारी उत्तरदायित्व लदे हैं। जो उसे ठीक तरह वहन कर सकने में समर्थ हैं, उन्हें ही यह बोझ उठाने

का साहस करना चाहिए अन्यथा बिना आगा–पीछा सोचे संतान बढ़ाते जाना, अपने लिए, बच्चों के लिए और समस्त समाज के लिए संकट प्रस्तुत करने का अपराध ही माना जाएगा।

संतान संख्या को बढ़ाना अपनी पत्नी के साथ प्रत्यक्ष अत्याचार है। बच्चे को नौ महीने पेट में रखना, उसका शरीर अपने रक्त–माँस से बनाना, प्रसव पीड़ा, दूध पिलाना और अधूरी नींद ले पाना माता के लिए एक असाधारण भार है। उसकी पूर्ति के लिए उसे बहुमूल्य पौष्टिक भोजन, विश्राम तथा कई तरह की सुविधाएँ चाहिए। ये न मिलें और एक के बाद दूसरे बच्चे जल्दी–जल्दी पैदा होते चले जाएँ, तो निश्चित रूप से उस माता का स्वास्थ्य बिगड़ जाएगा। अपने देश की चौथाई स्त्रियों का स्वास्थ्य इसी कारण खराब है, उन्हें अनेक तरह के भीतरी रोग घेरे रहते हैं। जवानी दो–चार वर्ष के भीतर चली जाती है और देखते–देखते बुढ़ापा आ घेरता है। प्रसव काल में अगणित स्त्रियाँ मरती हैं। दुर्बल शरीरों के लिए यह मार आखिर क्या परिणाम उत्पन्न कर सकती है ? यह स्पष्टतः हत्याकांडों की शृंखला है। जो जिस वजन को उठाने में असमर्थ है, उसके ऊपर लादते ही चले जाएँ, तो आखिर बेचारे को मरना ही पड़ेगा। हम कहने भर को ही अपनी पत्नी से दिखावटी प्यार करते हैं, व्यवहार हमारा कसाई जैसा होता है। प्रजनन के भार से कराहती हुई, बेमौत मरती हुई, अनेक रोगों से ग्रस्त महिलाओं की अगणित आत्माएँ अपने पतियों के नृशंस अत्याचारों की शिकार होती हैं। भले ही कोई इस तथ्य की उपेक्षा करे, पर सचाई तो अंततः सचाई ही रहेगी। दुर्बल माताएँ चिड़चिड़ी, दुर्गुणी और रुग्ण संतान ही उत्पन्न करेंगी। उससे किसी परिवार को प्रसन्नता अनुभव करने का नहीं, विपत्ति का ही मुख देखना पड़ेगा। अच्छा हो हम समझ से काम लें और प्रस्तुत परिस्थितियों को देखते हुए संतान की संख्या वृद्धि का संकट मोल लेने से पहले हजार बार उस जिम्मेदारी के संबंध में विचार करें। यदि अपनी पत्नी

की शारीरिक, मानसिक और आर्थिक स्थिति इसके लिए हर दृष्टि से उपयुक्त है, तो आगे बढ़ें अन्यथा कदम रोक लेने में ही दूरदर्शिता है।

अच्छा हो लड़के और लड़कियों के विवाह बड़ी आयु में किए जाएँ। अच्छा हो वानप्रस्थ की परंपरा फिर चले और चालीस वर्ष से अधिक आयु के व्यक्ति प्रजनन क्रिया से मुँह मोड़ लें। अच्छा हो जिनके बच्चे नहीं होते, उनकी सब लोग मिल–जुल कर प्रशंसा करें और उनके सौभाग्य को सराहें। अच्छा हो पहला बच्चा देर से उत्पन्न करें और एक या दो बच्चों के बाद उस प्रक्रिया को बंद कर दिया जाए। जिस तरह भी हो हमें जनसंख्या वृद्धि को निरुत्साहित ही करना चाहिए।

अपना देश मूढ़ मान्यताओं के जंजालों में जकड़ा हुआ है। इसमें लोग पाँच हजार वर्ष पुराने ढर्रे पर ही अभी भी सोचने के आदी हैं। विवाह होते ही संतान की शीघ्रता पड़ती है। जिसने बच्चा पैदा नहीं किया, जो उससे बचा रहा, वह अभागा और अभावग्रस्त समझा गया। असंख्य नर–नारी इसी मूढ़ विचारधारा में प्रवाहित होकर संतान के अभाव में रोते, कलपते पाए जाते हैं। संतान न होने पर पति–पत्नी अधिक स्वस्थ रह सकते हैं। शिशुपालन से बचे हुए समय और धन को समाज सेवा की ज्ञानयज्ञ जैसी अति महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं में व्यय कर सकते हैं और अपना लोक–परलोक हर दृष्टि से शानदार बना सकते हैं। बेटे से वंश चलने और पिंड मिलने वाली बात दिल्लगीबाजी जितना महत्त्व रखती है। पिंड अपने ही सत्कर्मों का मिलता है, बेटे का उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं। वंश अपने यश का चलता है अन्यथा ३–४ पीढ़ी के बाद तो अपने ही अंश–वंश के लोग नाम भूल जाते हैं, फिर आगे उसके चलने की क्या आशा है ?

हम आज की परिस्थितियों को समझें और संतान उत्पादन का उत्तरदायित्व तभी वहन करें, जब उसकी योग्यता एवं क्षमता अपने में हो, ऐसी दशा में भी संख्या न्यूनतम ही रखना उचित है। □

जनसंख्या की वृद्धि रुकनी ही चाहिए

देश की सबसे बड़ी समस्या है–जनसंख्या की असामान्य वृद्धि। लोग बिना सोचे–समझे, आँखें मूँदकर बच्चे पैदा करते चले जा रहे हैं। बच्चे पहले भी पैदा होते थे, पर ३० प्रतिशत बच्चे बीमारी, चिकित्सा संसाधनों के अभाव और अन्य कारणों से मर जाते थे, परंतु आज बाल मृत्यु दर घटी है। इस प्रकार जनसंख्या वृद्धि के बढ़ते हुए दबाव से जीवनोपयोगी वस्तुओं का अभाव होने लगा है। निवास, अन्न, वस्त्र, शिक्षा, चिकित्सा, आजीविका, यातायात के साधनों के लिए किस बुरी तरह खींचतान हो रही है, यह किसी से छिपा नहीं है। जिस चक्रवृद्धि क्रम से जनसंख्या बढ़ रही है, उसके जो दुष्परिणाम निकट भविष्य में सामने आने वाले हैं, उनकी कल्पना करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। विशेषज्ञों का अनुमान है कि अब से सौ वर्ष बाद मनुष्यों की स्थिति मक्खी, मच्छरों जैसी हो जाएगी और वे बेमौत काल के गाल में समाते चले जाएँगे। जीवन निर्वाह के साधन समाप्त होने के कारण मनुष्यों को भी निर्वाह के हर क्षेत्र में गतिरोध दिखाई देगा और वे बरसाती कीड़ों की तरह चारों ओर रेंगते, गंदगी फैलाते, मरते–खपते दिखाई पड़ेंगे।

जनसंख्या नियमन आज की खाद्य, शिक्षा, चिकित्सा, आजीविका एवं युद्ध वर्जन से भी बड़ी समस्या है। इस एक समस्या को मूल और अन्यों को पत्ते कहा जा सकता है। जड़ को सींचने, संभालने से काम चलेगा, पत्ते सींचने से नहीं। जनसंख्या सीमित हो, तो धरती के अनुदानों से, प्राकृतिक संपदा से लाभान्वित रहा जा सकता है। अस्तु, यदि संसार के

मूर्धन्य विभिन्न उपाय सोच रहे हैं और विवेकवान वर्ग विभिन्न प्रयोग कर रहे हैं, तो यह सराहनीय चेष्टा ही कही जाएगी।

नैतिक, चारित्रिक और सांस्कृतिक संकटों ने इन दिनों समस्त मानव जाति को उद्विग्न एवं संत्रस्त कर रखा है। इसका कारण है—मानवी दुर्बुद्धि, अदूरदर्शिता। दांपत्य जीवन का उच्चस्तरीय आनंद लेते हुए ही जनसंख्या वृद्धि को रोका जा सकता है और वैज्ञानिक प्रगति से, संसार से दरिद्रता, रुग्णता, अशिक्षा एवं पिछड़ेपन को दूर किया जा सकता है। यदि मानवी दुर्बुद्धि को रोका जा सके और उसका स्थान सद्भावना को, विवकेशीलता को मिल सके, तो उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं।

माल्थस ने जनसंख्या रोकने के दो उपाय बताए हैं—(१) पोजीटिव चेक, (२) प्रिवेन्टिव चेक। पहले का आशय उपर्युक्त कथन से ही है। माल्थस कहते हैं—जनसंख्या बढ़ती है, तो लोग पत्ते खाने को तरसते हैं, फिर प्रकृति अकाल, महामारी, भुखमरी आदि से उनका स्वयं संहार कर देती है।

प्रिवेन्टिव चेक का तात्पर्य यह है कि मनुष्य स्वयं विरोध करे। उससे वह सुरक्षित रह सकता है। इसमें प्रतिबंधात्मक विरोध, जिसमें परिवार नियोजन के सारे साधन आते हैं, पहला उपाय है। दूसरा और सबसे अच्छा उपाय यह है कि मनुष्य संयमित जीवन बिताए, पर इसके लिए उसे रचनात्मक दिशा की आवश्यकता होगी अर्थात् उसे मनोरंजन के ऐसे साधन देने होंगे, जो काम—सुख की तुलना में कहीं अधिक आकर्षक हों।

प्रतिबंधात्मक रोकथाम को माल्थस ने भी बुरा माना है और बताया है कि कृत्रिम साधनों से परिवार नियोजन करने वाली जातियाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कमजोर होती हैं। लूप, निरोध, नसबंदी आदि की चर्चा करने से आत्महीनता के भाव आते हैं। सरकारी मशीनरी के हाथ में यह साधन हों, तब उसके दुरुपयोग की और भी आशंका रहती है, जैसा कि इन दिनों हो रहा है। आज का परिवार नियोजन कार्यक्रम चारित्रिक अवस्थाओं

को सबसे अधिक चरमरा देने वाला आयोजन है। विनोबा जी ने तो उसे 'मातृत्व की विडंबना' कहकर पुकारा है। यदि इन कृत्रिम साधनों की चर्चा बंद न हुई, तो हम अपना संपूर्ण आध्यात्मिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक गौरव तक खो सकते हैं।

कृत्रिम साधनों से स्वास्थ्य बिगड़ता है। कृत्रिम साधन नए–नए रोगों को जन्म देते हैं। अनेक महिलाएँ रक्तस्राव से पीड़ित हुईं, तो अनेक को दूसरी बीमारियाँ हुईं। कृत्रिम साधन कामुकता और अनैतिक आचरण को प्रोत्साहन देते हैं। यौन–समस्या शारीरिक कम मानसिक अधिक है। कृत्रिम साधन लोगों को मानसिक दृष्टि से विभ्रांत और विक्षिप्त बनाते हैं। सामान्य चर्चा से कामस्वेच्छावाद भड़कता है। सामाजिक मर्यादाएँ टूटती हैं। सांस्कृतिक मूल्य बदल जाते हैं।

माल्थस के इस कथन की सत्यता को आज हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। सिनेमा के भद्दे अभिनय, गंदे गीत और अश्लील दृश्य यह बताते हैं कि आज समाज की मनोवृत्ति ऐसी ही है। अधिकांश जनता यही देखना चाहती है। इसमें फिल्म निर्माताओं को उतना दोष नहीं हैं, क्योंकि उनकी आदर्शवादी फिल्में लोग देखना पसंद नहीं करते।

इन दिनों प्रबुद्ध वर्ग में यह विचार दिन–दिन जोर पकड़ रहा है कि लोग अविवाहित जीवन व्यतीत करें। यदि विवाह भी करें, तो संतानोत्पादन न करने का आरंभ से ही निश्चय कर लें। जिनकी आर्थिक, बौद्धिक एवं शारीरिक क्षमता संतान को समुन्नत बनाने की है, वे न्यूनतम संख्या में बच्चे पैदा करें। एक या दो पर्याप्त माने जाने चाहिए। यह विचार न केवल चिंतन क्षेत्र में हैं वरन् कार्यान्वित भी किए जा रहे हैं। इस दिशा में कई देश बहुत आगे हैं।

जापान के नर–नारी विवाह से बचते हैं। उनमें से प्रायः एक तिहाई लोग आजीवन अविवाहित रहते हैं। जो विवाह करते हैं, वे बच्चे न होने की आवश्यक व्यवस्था अपनाए रहते हैं। वे सभी एक–दो संतान के बाद उस झंझट को समाप्त कर देते हैं। यह

किसी से छिपा नहीं है कि पिता की आर्थिक स्थिति पर, माता के स्वास्थ्य पर, देश के विकास पर बढ़ती हुई संतान कितना अधिक भार डालती है। जितना बोझ उठाने की कंधों में सामर्थ्य हो, उतना ही उठाना समझदारी है। जापान में विवाह कमजोरी या मजबूरी का कारण माना जाता है और उसे उपेक्षणीय माना जाता है। वहाँ विवाहों की बधाई नहीं बँटती, क्योंकि वह एक प्रतिगामी कदम माना जाता है।

अब विवाहों की आयु बढ़ रही है। भारत जैसे देश के पागल लोग तो दुधमुँहे बच्चों के विवाह भी कर सकते हैं और उस संतान–हत्या की खुशी भी मना सकते हैं, पर प्रगतिशील देशों के लोग यह सोचते हैं कि व्यर्थ का अड़ंगा उत्पन्न करके अपने विकास प्रयत्नों में अवरोध क्यों खड़ा किया जाए ? निश्चित रूप से विवाह के साथ इतने अधिक उत्तरदायित्व सिर पर आते हैं कि आदमी उसके बोझ से दबता, पिसता ही चला जाता है। उस गाड़ी को खींचने में उसका सारा कचूमर ही निकल जाता है। कोई बड़ी बात सोचना, कोई बड़े कदम उठाना, कोई प्रगति करना उसके लिए समय, शक्ति, चिंतन और धन के अभाव में संभव ही नहीं हो पाता। जो कुछ है वह इसी गृहस्थ की भट्टी में जलता चला जाता है।

विवाह की आयु प्रगतिशील देशों में वह समझी जाती है, जिसमें मनुष्य अपने परिपक्व अनुभव से एक–दूसरे के साथ अधिक अच्छी तरह निर्वाह कर सकें। नई उम्र के जोशीले बच्चे तो भावुकता के घोड़े पर चढ़े होते हैं। अभी प्राणाधिक प्यार, अभी उपेक्षा, अभी आवेश, अभी तलाक, अभी आत्महत्या, यह उपद्रव नई उम्र वाले ही करते हैं। प्रकृति के अनुसार बच्चे पैदा करने का उभार भी नई उम्र में ही होता है।

राष्ट्र संघ द्वारा संग्रहीत आँकड़ों की पुस्तक 'डोमोग्राफिक ईयर बुक' के अनुसार संसार भर की औसतन गणना के आधार पर महिलाएँ २४ वर्ष की आयु में और पुरुष २७ वर्ष की आयु में विवाह करते हैं। आयरलैंड का अनुपात इस दृष्टि में

सबसे ऊँचा है। वहाँ विवाह आयु ३१ वर्ष है।

यह आँकड़े बताते हैं कि कुछ अनुभवहीन नर–नारी बीस–पच्चीस वर्ष की आयु में विवाह करते होंगे और कुछ दूरदर्शी लोग ४० के आस–पास उस बंधन में बँधते होंगे, तभी तो औसत इतना आता होगा। संसार भर की नारियों की औसत आयु जब २४ वर्ष और पुरुषों की २७ वर्ष मानी गई है, तो उसमें भारत जैसे देश में बारह–चौदह वर्ष की आयु में विवाह करने वाले लोगों की गणना भी सम्मिलित होगी। बुद्धिमानी का औसत फैलाया जाए, तो वह ३० और ४० वर्ष के बीच ही पहुँचेगा। यह हवा यदि ठीक तरह चलने लगे और लोगों ने जनसंख्या वृद्धि के खतरे को ध्यान में रखते हुए, व्यक्तित्वों को अधिक विकसित करने की आवश्यकता समझते हुए यदि विवाह की आयु बढ़ाने का ध्यान रखा, तो सामने खड़ी सर्वनाशी विपत्ति से जरूर राहत मिलेगी।

अक्सर यह दलील दी जाती है कि अविवाहित असंयमी हो जाते हैं। जहाँ तक शरीर निचोड़ने का संबंध है, विवाहित लोग ही इस प्रकार की क्षति अधिक उठाते हैं। व्यभिचार एक मनःस्थिति है, वह विवाहितों में कम नहीं अधिक ही पनपा हुआ देखा जा सकता है। नैतिक प्रश्न मनुष्य के चिंतन, दृष्टिकोण एवं चरित्र से जुड़ा हुआ है। ये तथ्य विवाहित और अविवाहित दोनों ही पक्षों को समान रूप से प्रभावित कर सकते हैं। संयमी, सदाचारी रहने और उच्छृंखल, अनाचारी बनने में विवाह न कुछ सहायक होता है न बाधक। एक क्षण के लिए यह मान भी लिया जाए कि विवाह से यौन सदाचार होगा, तो उससे जितना लाभ है, उससे अधिक वैयक्तिक और सामाजिक हानियाँ वे हैं, जो शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और राष्ट्रीय समस्याओं को बेतरह प्रभावित करती हैं। तुलनात्मक विवेचन करने पर, यौन–सदाचार को अत्यधिक महत्त्व देने पर भी यह सिद्ध नहीं होता कि उतने भर से व्यक्ति अपने को, अपनी पत्नी को, अपने बच्चों को और अपने को अच्छी स्थिति दे सके।

जहाँ एक साथी, सहचर, मित्र, घनिष्ठ या आत्मीय का संबंध है और मिल–जुलकर जीवन जीने की व्यवस्था का प्रश्न है, वहाँ नर–नारी का कोई खास महत्त्व नहीं। क्या दो भाई या दो बहनें मिलकर साझीदारी की जिंदगी नहीं काट सकते ? जहाँ तक जीवन व्यवस्था में दो साथी–सहचरों का संबंध है, दो पुरुष या दो नारियाँ भी इस तरह की साझीदारी बना सकती हैं। मात्र यौन–आचरण के लिए विवाह करना वस्तुतः विवाह संस्था को अत्यंत निकृष्ट स्तर पर पटक देना है, यदि ऐसा ही है, तो उसे कानूनी वेश्यावृत्ति से अधिक और क्या कहा जाएगा?

आवश्यकतानुसार नर–नारी भी मिल–जुलकर रह सकते हैं और विवाह बंधन में बँधे रह सकते हैं। यदि उनके सामने पारस्परिक उत्कृष्ट सहयोग का अथवा मिल–जुलकर समाज के लिए उपयोगी काम करने का लक्ष्य हो। ये बिना संतानोत्पादन का उत्तरदायित्व कंधे पर उठाए अपने आनंद लक्ष्य को यौनाचार से, संतानोत्पादन से सहज ही ऊँचा रख सकते हैं।

नर–नारी के बीच भी यदि विवाह हो, तो क्या आवश्यकता है कि संतानोत्पादन को अनिवार्य, आवश्यक ही समझें। क्या व्यक्ति और समाज का भार बढ़ाने की अपेक्षा नर–नारी का मिलन किन्हीं अन्य उपयोगी कार्यों में प्रयुक्त नहीं हो सकता ?

क्या पच्चीस साल से कम आयु के शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अपरिपक्व और अविकसित बच्चों का विवाह बंधन, उनकी प्रगति के द्वार बंद कर देना और अनावश्यक दबाव में दबकर उनका भविष्य अंधकारमय बना देना उचित है? इस प्रश्न पर इस तथ्य को भी ध्यान में रखकर विचार करना होगा कि बढ़ती हुई जनसंख्या की दर मानवी अस्तित्व को धरती पर से मिटा देने के लिए एक भयंकर विभीषिका के रूप में सामने खड़ी है।

संतानोत्पादन को निरुत्साहित किया जाए

एक आत्मानुभवी विद्वान का कथन है–"संतान से मनुष्य के ऊँचे उद्देश्य की पूर्ति में बड़ी बाधा पड़ती है। पिता तो अधिक कमाने के कुचक्र में स्वास्थ्य, यौवन, अपना आनंद, मनोरंजन और ज्ञान का विकास छोड़ देता है और माता अपने आप आधी भूखी–प्यासी रहकर शरीर का बूँद–बूँद रस शिशु को पिला देती है। दोनों शोषण किए जाते हैं। किसी सामाजिक अथवा उच्च उद्देश्य के लिए बेकार हो जाते हैं। जिन शिशुओं के पालन–पोषण और शिक्षा–दीक्षा की व्यवस्था ठीक प्रकार से नहीं हो पाती, उन्हें जन्म देना अपराध है।"

इसी प्रकार एक विश्व–विख्यात वैज्ञानिक श्री हैनरी कैविडिश ने एक स्थान पर कहा है–"विवाह करने का अर्थ है–संतान। एक बार संतान के कुचक्र में फँसकर मनुष्य का स्वतंत्र विकास रुक जाता है। उन्हीं के पालन–पोषण, शिक्षा–दीक्षा, ब्याह–शादी तथा अन्य सैकड़ों प्रकार की जिम्मेदारियों में मर कर खत्म हो जाना पड़ता है। बिगड़ी हुई संतान प्रत्यक्ष नरकतुल्य होती है।"

केवल एक या दो संतान ही संसार का क्रम चलाते रहने के लिए पर्याप्त हैं। इसके लिए एक निकम्मी सेना बनाकर खड़ी कर देना कतई उचित नहीं है। केवल एक सत्संतान सौ अयोग्य संतानों से बढ़कर है। जो समाज तथा राष्ट्र को एक सुयोग्य नागरिक भेंट करने के लिए संतानोत्पत्ति के नियमों सहित धर्मपूर्वक क्रिया करता है, वह संतान के पुण्य का भागी बनता है, नहीं तो अनियमित अथवा अधर्मपूर्वक, कामक्रीड़ा के फलस्वरूप

उत्पन्न संतान तो यों भी नरकतुल्य होती है। यदि किसी के यहाँ एक दुष्ट अपराधी या मंद बुद्धि पुत्र जन्म ले ले तो उसकी प्रत्यक्ष मृत्यु हो जाती है। उसकी परेशानियों का पारावार नहीं रहता। ऐसी संतान से क्या तो परिवार या माता–पिता का हित हो सकता है और क्या समाज को लाभ ?

जिसके जितने अधिक बच्चे हैं, वह उतना ही अधिक चिंतित, दुःखी और उद्विग्न पाया जाता है। अब पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी के दृष्टिकोण में भी भारी अंतर आ गया है। लड़का कमाने योग्य होते ही अपनी बीबी को लेकर अलग हो जाता है। बाप के मरने के पहले ही घर की संपदा में अपना हिस्सा माँगता है। पढ़ाई में, शादी में अंधाधुंध खर्च करने और फिर उत्तराधिकार की पूँजी देने के बाद घर खोखला हो जाता है। जो आशा की गई थी कि लड़के के बड़े होने पर उसकी कमाई से परिवार का पोषण होगा और लागत की पूँजी ब्याज समेत वापस लौट जाएगी, वह सपने निरर्थक सिद्ध होते हैं और घर के अन्य लोगों के बीच एक नए प्रकार का कलह उत्पन्न होता है। यह पैसे का युग है। गृहपति सोचता है कि संतान उसके लिए हर दृष्टि से महँगी पड़ी। शिष्टाचार निर्वाह के स्थान पर आए दिन अपमान सहने पड़ते हैं।

विवाह से पूर्व वर–वधू जो रंग–बिरंगे सपने देखते हैं, वे कोसों दूर रह जाते हैं। विलासिता की रंगरेलियाँ किसे सूझें, जब सब ओर से मुसीबतें घिर कर इकट्ठी होती चली जा रही हों, ऐसी दशा में लड़के–लड़की पर दांपत्य जीवन के साथ जो जिम्मेदारियाँ आती हैं, उन्हें निबाहने की अपेक्षा कतराने और इधर–उधर झाँकने लगते हैं। यहाँ से कलह की एक और शुरूआत होती है।

जब तक संतान न हो, तब तक लगता है घर में इंद्र, कुबेर जन्म लेने वाले हैं, पर कुछ ही दिनों में जब उनकी जिम्मेदारियाँ वहन करनी पड़ती हैं, तो प्रतीत होता है कि झूँठे सपने देखे गए थे। सिर पर हजार मुसीबतें आ धमकने का नाम ही संतानोत्पादन

है। पिता का अर्थ–संतुलन चौपट होता है। माँ के स्वास्थ्य का सत्यानाश होता है। संतान के नखरे आसमान पर चढ़े रहते हैं। समाज पर अतिरिक्त बोझ लदता है और देश–जाति की बात सोचने वाले इन उत्पादनकर्ताओं को हजारों गालियाँ नित्य देते हैं। कारण कि इतनी हानि देश की किसी दुर्दांत शत्रु के आक्रमण से भी नहीं होती। हर साल नए स्कूल खुलते हैं, पर जितना इनका लाभ मिलना चाहिए, उससे दुगुनी–चौगुनी आवश्यकता बढ़ जाती है। फलतः कमी आगे–आगे बढ़ती जाती है और प्रगति कोसों पीछे छूट जाती है। दोष संस्कार को, भाग्य को, भगवान को किसी को भी दिया जा सकता है, पर वास्तविकता यह है कि बढ़े हुए संतानोत्पादन का दैत्य ऐसा है, जो प्रगति की सभी योजनाओं को चट कर जाता है और अभाव पहले से भी अधिक दीखने लगता है। शिक्षा का बजट तेजी से बढ़ता जाता है, पर अशिक्षा का अनुपात पहले की अपेक्षा बढ़ ही जाता है। गति यही रही, तो हम शिक्षा की, चिकित्सा की, बेकारी की मूलभूत समस्याओं को हजार वर्षों में भी हल न कर सकेंगे। आज परिवारों का स्वरूप बद से बदतर होता जा रहा है और व्यक्ति चिंताओं, उद्विग्नताओं से घिर कर अनिद्रा, रक्तचाप, मधुमेह, तनाव आदि रोगों से ग्रसित रहकर अकाल में ही काल कलवित होता जा रहा है। इन मुसीबतों से घबराकर क्षणिक राहत पाने के लिए लोग नशों का आश्रय लेते हैं, पर वे उलटे यमदूत बनकर सर्वनाश में जो कमी रह जाती है, उसे पूरी करते रहते हैं। इन परिस्थितियों को देखते हुए जो समझदार हैं, वे संतानोत्पादन पर अंकुश लगाते हैं। वे अपने दारिद्र्य, स्त्री का शरीर और बच्चे का भविष्य नष्ट होने से बड़ी हद तक बचा लेते हैं।

वह समय चला गया, जब लड़का होने से वंश चलने, पिंड मिलने जैसी बातें सोची जाती थीं। अब कोई वज्रमूर्ख ही ऐसी ओछी बातें सोचता होगा। वंश चलने और सद्गति होने की बात अपने सत्कर्मों पर अवलंबित है। कोई बेटा अपने पूर्वजों को

अपने कंधे पर लादकर स्वर्ग नहीं भेज सका। यह व्यर्थ की बात अब लोगों के मन से छूटती जा रही है। कहीं बची भी है, तो उनका अंत होने में अब देर नहीं। संतानोत्पादन पर आज जो खुशियाँ मनाई जाती हैं, अगले दिनों उसे मातम जैसा दुर्भाग्य माना जाने लगे, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

बहुसंख्यक संतान उत्पन्न करने वाले सदा विपत्ति में फँसते हैं। घर में नए मेहमान आमंत्रित करने से पूर्व यह देखना चाहिए कि उनके स्वागत–सत्कार की उपयुक्त सामग्री पास में है या नहीं। जिन महिलाओं के शरीर में अपनी जीवन यात्रा ढोने से बचा हुआ अतिरिक्त रक्त–माँस नहीं, वे अपने ऊपर जीवन संकट ओढ़ कर ही प्रजनन का जोखिम भरा दुस्साहस कर सकती हैं। बच्चे आखिर माता का ही रस–रक्त तो दूध के रूप में पीते हैं। यदि वह पदार्थ शरीर में फालतू नहीं है, तो संतान का शौक पूरा करना, अपने ऊपर प्राणघातक विपत्ति मोल लेना है।

कई व्यक्ति अपनी पत्नियों के रोगी, दुर्बल होते हुए भी संतान के लिए अति उत्साह दिखाते हैं। वे एक प्रकार से किसी काल्पनिक सुख के लिए पत्नी के प्राणघाती हत्यारे ही कहे जाएँगे। शरीरशास्त्रियों के अनुसार प्रसव वेदना का कष्ट और रक्त प्रवाह इतना भयंकर होता है, जितना दस बार छुरे घोंपने का घातक आक्रमण। इस विपत्ति से जूझते हुए प्रायः पंद्रह प्रतिशत महिलाएँ अपनी जान प्रसूति काल में ही गँवा देती हैं। संतान की कल्पनात्मक हविस पूरी करने के लिए जिन्होंने अपनी पत्नी को इस वेदना में धकेलने की ठान ठानी हो, उन्हें यह नहीं कहना चाहिए कि पत्नी प्रेम भी उनकी दृष्टि में कोई चीज है। उसके जीवन–मरण से भी उनका कोई सहृदयता पूर्ण संबंध है।

यह कहा जाता है कि पिछड़े हुए लोग जनसंख्या की वृद्धि अधिक करते हैं, उन्हें नियंत्रण की बात समझ नहीं आती, समझदार लोग ही इस प्रकार का संयम करते हैं। फलतः अच्छे

लोगों की संतानें घटती जाएँगी और पिछड़े लोग बढ़ते जाएँगे, फलस्वरूप भविष्य में उन्हीं का बहुमत हो जाएगा। यह आशंका इसलिए निरर्थक है कि जो समझदार लोग समाज हित को ध्यान में रखकर संतानोत्पादन से हाथ खीचेंगे, वे अपनी क्षमता को समाज हित में ही लगाएँगे और पिछड़े वर्ग को सुविकसित बनाने में लगेंगे, ऐसी दशा में कोई पिछड़ा रहेगा ही नहीं। विद्वान, धनवान, गुणवान, प्रतिभावान वर्ग के लोग आज तो अपने और अपने बाल–बच्चों के लिए ही अपनी समस्त क्षमता खर्च करते रहते हैं, जब वे संकीर्णता की परिधि से ऊपर उठ कर समाज हित की बात सोचने लगेंगे और प्रजनन पर नियंत्रण स्वीकार करेंगे, तो स्वभावतः उनमें उतनी उदारता भी जागेगी कि अपनी विभूतियों को पिछड़े हुए लोगों का पिछड़ापन दूर करने में नियोजित करें। ऐसी दशा में देश के सभी बच्चे उनके अपने बच्चे होंगे। यह सोचना भी बेतुका है कि हिंदू लोग ही संतानोत्पादन सीमित करने की बात पर ध्यान देते हैं। मुसलमान इस आंदोलन में उतना उत्साह नहीं दिखाते। ऐसी दशा में मुसलमानों की संख्या बढ़ती जाएगी, हिंदू उनकी तुलना में घटते जाएँगे, फलस्वरूप कुछ दिनों में आबादी के अनुपात से हिंदुस्तान को मुसलिमस्तान बनाने का खतरा उत्पन्न हो जाएगा।

यह आशंका बालिग मताधिकार के वर्तमान चुनाव ढाँचे को देखते हुए की जाती है। निकट भविष्य में न तो यह प्रजातंत्री ढाँचा रहेगा और न वर्तमान सांप्रदायिक कट्टरता के लिए के लिए कोई आधार शेष रह पाएगा। बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक क्रांति के कारण विभेद की अनेक दीवारें विस्मार होने जा रही हैं, उसमें विभेद उत्पन्न करने वाला आज का संप्रदायवाद भी नष्ट होकर ही रहेगा। संभावना एक विश्व धर्म की ही की जानी चाहिए। वर्तमान संप्रदायों की तो तब मात्र झाँकी ही रह सकती है। जिस द्वेष–दुर्भाव को देखते हुए आज किसी धर्मवालों की वृद्धि की बात सोची जाती है, उस दुष्टता के लिए अगले दिनों कहीं कोई स्थान न होगा। सभी मनुष्य मात्र बनकर रहेंगे और

देश की सीमित भूमि सीमा को तोड़कर विश्व राष्ट्र में सभी लोग विश्व नागरिक बनकर रहेंगे।

संसार में बहुमत सदा पिछड़े और मूर्ख लोगों का रहा है। यदि आज के बालिग मताधिकार वाला प्रजातंत्र आगे भी बना रहा, तो कभी भी समझदार लोगों की सरकार नहीं बन सकेगी। अच्छी सरकार के लिए अच्छे मतदाता होने चाहिए। अगले दिनों प्रजातंत्र भले ही रहे, परंतु उसकी चुनाव पद्धति में ऐसा हेर-फेर होगा कि उत्तरदायित्व को समझने और सँभालने वाले ही मतदान करेंगे अथवा प्रत्याशी बनेंगे। इसके लिए कसौटियाँ निर्धारित करनी पड़ेंगी। तभी कोई आदर्श सरकार बन सकेगी। जनसंख्या नियंत्रण की विश्व विभीषिका का सामना करने में हमें इस विकृति को, आशंकाओं को ध्यान में रखकर असमंजस में पड़ने की जरूरत नहीं है। किसी कार्यक्रम की सफलता के लिए सिर्फ योजनाएँ बनाना या ढाँचा खड़ा करना ही पर्याप्त नहीं होता। महत्त्वपूर्ण होता है, उस कार्यक्रम को रचनात्मक स्वरूप देना और अपनाना। सकारात्मक रूप किसी भी योजना को मिले, तभी वह कारगर हो सकती है। ☐

राजनेता, धर्माचार्य, बुद्धिजीवी, कलाकार, धनपति, ये पाँचों शक्तियाँ क्रमशः शासन, धर्म, विद्या, कला एवं धन के अधिष्ठातागण हैं। जिस दिशा में ये चलते हैं, समाज व संस्कृति का प्रवाह उसी दिशा में होने लगता है। जब भी ये पाँचों अनुशासित रहे हैं, इन्होंने अपना स्तर ऊँचा रखा है, क्रियाकलापों में अपने गौरवपूर्ण उत्तरदायित्व को निभाया है, तब वहाँ स्वर्गीय वातावरण ही पैदा हुआ है। जब भी इन सत्ताधीशों ने अपनी क्षमता का दुरुपयोग किया है, तो इस दुर्बुद्धि का परिणाम सारे समाज को भुगतना पड़ा है।

–सरदार पटेल

संतान की संख्या बढ़ाना अत्यंत घातक

बालकों की संख्या बढ़ाना ऐसी भूल है, जिसका प्रायश्चित समाज के सभी घटकों को करना पड़ता है। पिता पर अधिक अर्थ उपार्जन का दबाव पड़ता है। अब वह जमाना नहीं रहा कि बच्चे जरा–सा समझदार होते ही पशु चराने, घास खोदने, लकड़ी–गोबर बीनने जैसे छुटपुट घरेलू काम करते हुए भी अपने लिए निर्वाह साधन कमा लें।

माता के लिए बच्चे का जन्म अपने लिए नए जन्म के समान भारी पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रसव वेदना बिना सुँघाए किए जाने वाले चीर–फाड़ ऑपरेशन की तरह भारी पड़ती है। यदि उस वैतरणी से पार उतर लिया जाए, तो समझना चाहिए कि नया जन्म मिला अन्यथा उस अवसर पर अनेकों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है। फिर दिन–रात सेवा में संलग्न रहकर उनकी सुव्यवस्था बनाना भी सामान्य सामर्थ्य का काम नहीं है। पशु–पक्षियों के बच्चे तो आसानी से जन्म के बाद भागने–दौड़ने लगते हैं, पर मनुष्य को बालक की साज–सँभाल में प्रायः दस वर्ष से भी अधिक समय की तपश्चर्या करनी पड़ती है।

बालकों की शिक्षा–दीक्षा का, आहार–विहार का, स्वावलंबन–सुसंस्कार का प्रबंध न हो सके, तो वे अनाथ रह जाते हैं। बेरोजगारी के, दुर्व्यसनों के कुचक्र में यदि वे फँस जाएँ, तो समझना चाहिए कि जीवन ही बर्बाद हुआ। ऐसी दशा में बालक अभिभावकों को भी कोसते हैं कि बिना समुचित प्रबंध के हमें अनचाहे अतिथि की तरह क्यों बुला लिया गया ? क्यों हमारा भविष्य अंधकारमय बनाया गया?

सर्वविदित है कि जनसंख्या अधिक बढ़ते जाने से राष्ट्रीय प्रगति में कितनी बाधा पड़ती है। जितने साधन शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार के किसी प्रकार जुट पाते हैं, उससे अधिक संख्या में नवागंतुक आ विराजते हैं। फलतः कमी को दूर करने की सारी योजनाएँ निष्फल चली जाती हैं। देश गरीबी की रेखा से ऊँचा उठ ही नहीं पाता । इन परिस्थितियों के रहते, नए बच्चों को जन्म देना प्रसन्नता का नहीं चिंता और हैरानी का कारण ही समझा जाता है।

आखिर उन लोगों का इरादा क्या है, जो संतान पर संतान उत्पन्न किए जा रहे हैं। छः–सात बच्चे हो चुके हैं, किंतु प्रजनन अभी बंद नहीं है। प्रौढ़ावस्था पार कर चुके हैं, किन्तु बच्चों का बोझ बढ़ाए चले जा रहे हैं। कभी यह विचार नहीं करते कि आखिर इसका परिणाम क्या होगा? होगा यह कि या तो वे अपनी विधवा पर, क्योंकि इस प्रयास में उन्हें जीना तो ज्यादा दिन है ही नहीं, अनेक अबोध बच्चों का भार छोड़ जाएँगे, जो बेचारी जीवन भर रो–रोकर, मर–खपकर ढोएगी या उस बड़े लड़के की जिंदगी में आग लगा जाएँगे, जो उनके शिथिल अथवा मृत्यु होने तक किसी प्रकार छोटे–मोटे काम पर लग गया होगा और ज्यों–त्यों विवाह हो गया होगा। जरा सोचने की बात कि वह विकासोन्मुख तरुण अपना और अपनी पत्नी का भी भरण–पोषण कठिनता से कर पाएगा, वह इतने भाई–बहनों को कैसे तो पाल पाएगा और कैसे पढ़ा–लिखा कर योग्य बनाएगा? इसका तो अर्थ यही होगा कि वह पिता से भी जल्दी अपनी जवानी चिंताओं की भेंट चढ़ा देगा। पिता का पाप पुत्र भोगे, यह बात तो कुछ समझ में नहीं आती है।

ऐसे परिवारों की भी कमी नहीं है, जहाँ एक साथ पिता और पुत्र को संतान पैदा होती हैं। पिता के लिए यह प्रतियोगिता कितनी अशोभनीय है? यह बात जनसंख्या वृद्धि की विषम परिस्थिति में शोचनीय है । यदि जनसंख्या की वृद्धि नियंत्रित न हुई तो संसार में प्रलय के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगेंगे। जिस संसार में हम रहते हैं, जिस देश के हम नागरिक हैं, जिस

राष्ट्र का अन्न–पानी, खाते–पीते और जिस समाज की सहायता से जीते हैं, उसका हित चिंतन करना हमारा पुण्य पवित्र कर्त्तव्य है और आज जनवृद्धि को नियंत्रित करना सबसे बड़ा देशहित साधन है। क्या इस प्रकार के लोग इस ओर ध्यान दे पाते हैं?

कुछ लोग एक पुत्र को पाने के लिए लड़कियों से घर भर लिया करते हैं। दो लड़कियाँ हो गईं, यही जिम्मेदारी काफी थी, लेकिन संतोष नहीं। एक लड़का भी हो जाता, तो अच्छा था, लेकिन फिर कन्या आई । दुख तो हुआ पर आशा–एषणा का त्याग नहीं किया, पुनः लड़की, पुनः लड़की । फिर भी पुत्रेषणा नहीं जाती। देख रहे हैं कि लड़कियाँ ही हो रही हैं। उस अंध सौदे का कोई विश्वास नहीं। केवल आशा और शायद के भरोसे प्रजनन नहीं रोकते । आखिर नतीजा यह होता है कि जहाँ एक लड़की के विवाह में छक्के छूट जाते हैं, वहाँ छः–छः, सात–सात लड़कियों से घर भर जाता है। इसका नतीजा सिवाय इसके और क्या हो सकता है कि किन्हीं एक–दो लड़कियों की शिक्षा–दीक्षा और विवाह–शादी ठीक से हो जाए और बाकी सबको यों ही अधेड़ों, विधुरों, दूजहा, तीजहा को उचित–अनुचित स्थानों पर फेंका जाए। समाज की अभागी प्रथाएँ और कुरीतियाँ दो–एक लड़कियों के विवाह में ही कंगाल बना देती हैं, तब भला छः–सात लड़कियों की विवाह–शादी किस प्रकार ठीक से की जा सकती है ?

जब दो लड़कियाँ हो गईं, तभी संतान की प्यास बुझ जानी चाहिए थी और समझ लेना चाहिए था कि जिंदगी के लिए काफी जिम्मेदारी और काम आ गया है। इन दो कन्याओं को ही सुयोग्य बनाने और अच्छे घर–वर को सौंपने में ही इतना रुपया चाहिए, जितना कठिनता से ही जमा हो सकेगा। अब अगर लड़का हो भी गया तो उसकी शिक्षा–दीक्षा और विवाह–शादी के लिए रुपए के लाले पड़ जाएँगे, किंतु मनुष्य की इस निरर्थक इच्छा को क्या कहा जाए, जिसे पूरा करने की आशा में वह जिंदगी पर बोझ पर बोझ रखता चला जाता है।

अधिक संतानों को सुयोग्य बनाया जाना संभव नहीं । निश्चय ही उनमें से अनेक आवारा, अनैतिक, अपराधी तथा अनुशासनहीन हो जाएँगे। इस प्रकार की विकृत संतानें अभिभावकों के लिए तो जान का बबाल बन ही जाती हैं, समाज के लिए भी अभिशाप सिद्ध होती हैं। अरस्तु ने अपने देशवासियों को सावधान करते हुए चेतावनी दे दी थी–

''जनसंख्या की अतिरिक्त वृद्धि हो जाने पर समाज का आर्थिक, नैतिक और आध्यात्मिक पतन हो जाता है। सामाजिक व पारिवारिक व्यवस्था बिगड़ जाती है। निरर्थक मनुष्य राष्ट्र का भोजन खा–खाकर नष्ट कर डालते हैं। धर्माचार का त्याग कर निरंकुश, स्वेच्छाचारी हो जाने से लोग अनैतिक मार्गों पर चलने लगते हैं। उद्दंड घोड़ों की तरह किसी कायदे–कानून को नहीं मानते और समाज में अपराधों तथा आतंक का वातावरण उत्पन्न करते हैं, जिससे प्रगति में बाधा पड़ती है। अधिकांश नागरिक अविकसित, अशिक्षित और मूर्ख रहकर पशुओं जैसा जीवन व्यतीत करते और मक्खी–मच्छरों की तरह मरते रहते हैं। मानसिक तथा सामाजिक बुराइयों का प्रधान कारण आबादी की अनियंत्रित अभिवृद्धि ही है।''

अरस्तु ही क्यों भारतीय ऋषि–मुनियों ने तो इससे भी पहले जन–वृद्धि के दुष्परिणामों से सावधान कर दिया था। राम को उपदेश देते हुए मुनि वसिष्ठ ने अपने ग्रंथ ''योग वासिष्ठ'' में कहा है–**''जब किसी देश की जनसंख्या बहुत बढ़ जाती है, तो अकाल, महामारी, युद्ध या भूकंप आदि दैवी अथवा मानवीय आपत्तियाँ उठ खड़ी होती हैं, जिससे कीड़े–मकोड़े की तरह मानव–जाति का विनाश हो जाता है।''**

पहले जब किसी एक स्थान की जनसंख्या बढ़ जाती थी, तो बहुत से लोग दूसरे स्थान पर चले जाते थे, किन्तु आज संसार का कोना–कोना मनुष्यों से खचाखच भरा हुआ है, किसी को कहीं आने–जाने की सुविधा ही नहीं है। ऐसी दशा में सिवाय इसके कि देश भर की ईति–भीति में बर्बादी हो अथवा अपने

अस्तित्व के लिए दूसरे निर्बलों को मार–काट कर अपने लिए स्थान बनाएँ। इसके सिवाय और क्या हो सकता है? युद्ध का एक बड़ा कारण संसार में जनसंख्या की वृद्धि भी है।

भारत की बेतहाशा बढ़ती हुई जनसंख्या की चिंता संसार भर को है, किंतु स्वयं भारतवासियों को नहीं है। वे बराबर पीढ़ी–दर–पीढ़ी करोड़ों की आबादी प्रतिवर्ष बढ़ाते चले जा रहे हैं। जनसंख्या की यदि यही रफ्तार रही तो भारतवासियों को शीघ्र ही प्रलय के दृश्य देखने के लिए तैयार रहना चाहिए और अपनी बहुमूल्य सभ्यता एवं संस्कृति का मोह अभी से छोड़ने का अभ्यास करना चाहिए।

जो लोग वैज्ञानिक बल पर जनसंख्या और खाद्य सामग्री में अनुपात बने रहने की आशा करते हैं, उन्हें सावधान करने के लिए विद्वान माल्थस के आधुनिक विज्ञान से सम्मत तर्क व प्रमाणों से पुष्ट यह विचार कुछ कम सत्यतापूर्ण नहीं हैं।

''विज्ञान चाहे कितनी ही उन्नति क्यों न करता जाए, जमीन की उपज और उससे मिलने वाली अनाज की पैदावार एक नियत सीमा के भीतर ही बढ़ सकती है। प्रत्येक पौधे की जड़ और पत्तियों को फैलने के लिए जितना स्थान, समय, वायु, धूप व जल इत्यादि आवश्यक है, उसे जनसंख्या के अनुपात से खींचतान कर घटाया–बढ़ाया नहीं जा सकता। साथ ही यह भी अनुभव सिद्ध है कि जमीन की पैदावार को जब बहुत अधिक बढ़ाने की चेष्टा की जाती है, तो शीघ्र ही ऐसा अवसर आता है कि परिश्रम के अनुपात से पैदावार घटने लगती है, क्योंकि अप्राकृतिक ढंग से भूमि के साथ बलात्कार करने से उसकी उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है।''

इन परिस्थितियों एवं तथ्यों के होते और जानते हुए भी जो लोग संतान वृद्धि पर संयम नहीं करते, उनके लिए तो यही कहना पड़ेगा कि ऐसे लोग जीवन में सुख–शांति और सशक्त समाज का मूल्य–महत्त्व नहीं जानते और चाहते हैं कि जहाँ कल नष्ट होने को हो, संसार आज नष्ट हो जाए। □

छोटा परिवार सुखी परिवार

बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या इस युग की सबसे बड़ी समस्या है और यदि उसे हल नहीं किया गया, तो अपनी मूर्खता के दंड स्वरूप ही मनुष्य जाति को रोते–बिलखते अपने हाथों आत्म–हत्या करने के लिए विवश होना पड़ेगा। अधिक उत्पादन और न्यायोचित वितरण से राहत मिलने की बात पर जोर देने वाले भी यह स्वीकार करते हैं कि यह उपाय सामयिक संकट हलका कर सकते हैं, पर जनसंख्या का बढ़ता हुआ क्रम यथावत् चलने देना तो उन्हें भी स्वीकार नहीं।

बढ़ती हुई जनसंख्या का एक बड़ा दोष यह है कि प्राकृतिक सुविधा के अभाव में तथा खाद्य पदार्थों में जीवन–तत्त्व घटते जाने के कारण पीढ़ियाँ दुर्बल होती चली जाती हैं, वे रुग्ण रहती हैं और काम करने की क्षमता घटती चली जाती है। फलतः हर स्तर का उत्पादन घटता है। शारीरिक और मानसिक बलिष्ठता घटने पर कामों का स्तर तथा परिमाण घटेगा ही । भीमकाय स्वसंचालित यंत्र जनशक्ति की आवश्यकता तो पूरी कर सकते हैं, पर उनसे बेकारी बेहिसाब बढ़ती है, जो और भी अधिक घातक है।

पशुओं को जीवित न रखा जा सकेगा। ऐसी दशा में दूध या मांस की उपलब्धि भी असंभव हो जाएगी। समुद्र से जल–जीव, वनस्पतियाँ तथा पशु–पक्षियों का मांस प्राप्त करने के प्रयास भी एक सीमा तक ही उस आवश्यकता को पूरा कर सकेंगे। मांस के लिए पाले जाने वाले जानवरों के लिए चारा तो चाहिए ही। भूमि की सीमा जब लोगों के निवास–प्रवास की एवं अन्न की आवश्यकता पूरी नहीं कर पाएगी, तो इस मांस या दूध के लिए पाले जाने वाले पशुओं के लिए निवास तथा

चारे के लिए भूमि कहाँ से आएगी? अर्थशास्त्री बताते हैं कि अगले दिनों पशुओं और मनुष्यों में प्रतिद्वंद्विता होगी। कौन जीवित रहेगा? इस संघर्ष में पशु हार जाएगा और भूमि को पशुओं के उपयोग से छीनकर मनुष्यों के लिए प्रयुक्त किया जाएगा। अन्न का भूसा तथा घास, कागज और काष्ठ जैसी सामग्री बनाने में खप जाएगा।

विवाह योग्य युवकों के लिए भी यही उचित है कि जब वे शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ संतोनात्पादन के योग्य परिपुष्ट हो जाएँ और आर्थिक दृष्टि से अपने पैरों पर खड़े हो जाने योग्य हो जाएँ, तभी विवाह की स्वीकृति अभिभावकों को दें। यदि मोहवश समय से पूर्व विवाह के लिए दबाव डाला जा रहा है, तो उसके लिए नम्रतापूर्वक, किंतु अत्यंत दृढ़ता के साथ इंकार ही कर देना चाहिए। इसमें न तो अवज्ञा की बात है और न अशिष्टता की।

व्यभिचार अविवाहितों में बढ़ता है, विवाहितों में नहीं, यह आशंका व्यर्थ है। व्यभिचार और सदाचार मानसिक स्थिति पर निर्भर हैं। विवाहित हो जाने पर इस कुकर्म पर कोई बंधन नहीं बँधता वरन् अविवाहितों के व्यभिचारों की अपेक्षा वह और भी अधिक निरापद हो जाता है। यदि अन्वेषण किया जाए, तो इस संदर्भ में अविवाहितों की अपेक्षा विवाहित ही अधिक दुराचरण अपनाए हुए पाए जाएँगे। मर्यादाओं का पालन यदि सीखा और सिखाया जाए, तो अविवाहित रहना किसी भी दृष्टि से व्यक्ति और समाज के लिए अहितकर सिद्ध नहीं हो सकता। हर किसी का विवाह अवश्य ही होना चाहिए, आजकल जो यह मूढ़-मान्यता प्रचलित है, उसके पीछे विवेकशीलता नहीं वरन् रूढ़िवादिता की ही प्रधानता रहती है।

जनसंख्या वृद्धि के आँकड़े वस्तुतः चिंताजनक हैं। जनसंख्या का बढ़ना मानव जाति के लिए भयंकर संकट है, किंतु क्या इस संकट का हल अप्राकृतिक साधनों से किया जा सकता है, यह प्रश्न भी उतना ही जटिल है, जितना जनसंख्या वृद्धि की

समस्या। हमें उन फलितार्थों को आँख मूँदकर स्वीकार नहीं करना चाहिए, जो परिवार नियोजन के अंतर्गत इन दिनों चल रहे हैं। इनका मनुष्य के, विशेषकर महिलाओं के स्वास्थ्य, शरीर पर तथा समाज पर किस तरह का प्रभाव पड़ रहा है, इसका जब तक अनुमान नहीं कर लेते, ये आयोजन महँगे और भारी पड़ेंगे।

माल्थस ने कहा था कि "मनुष्य को पहले ही सद्‌बुद्धि से काम लेना चाहिए और जनसंख्या को इतना सीमित रखना चाहिए कि ऐसी परिस्थिति ही उत्पन्न न होने पाए कि प्राकृतिक अवरोधों के कारण कष्ट उठाने पड़ें।"

माल्थस की उक्त चेतावनी अब सत्य प्रतीत होती जान पड़ रही है। समय अब भी इतना शेष है कि मनुष्य स्वयं को सँभाल सके। यदि वह आत्मसंयम द्वारा अपनी यह जनसंख्या वृद्धि की समस्या सुलझाने के लिए तैयार नहीं होता, तो यह कार्य प्रकृति के लिए ही छोड़ देना चाहिए। प्रकृति अपने आप इतनी समझदार है कि या तो वह जितने प्राणी पैदा करती है, उनके लिए आवश्यक सुविधाएँ भी देती रहे और यदि मानवीय विवेक निरंतर असावधानी बरतने का दुःसाहस करेगा, तो यह प्रकृति इस बात के लिए भी समर्थ है कि अपनी शक्ति से उसे नियंत्रण में ले आए। भले ही वे नियंत्रण अति कष्टकारक सिद्ध हों। जैसे गुजरात में आए भूकंप तथा उड़ीसा के तूफान के उदाहरण को देख सकते हैं।

प्रकृति उनके लिए अपना संहार–अस्त्र प्रयोग करती है। साधारण–सी सर्दी आते ही मक्खियाँ मरकर अपने आप नष्ट हो जाती हैं। मनुष्य समाज के लिए भी यही बात हो सकती है। प्रजनन की गति जितनी बढ़ेगी, मनुष्यों के स्वास्थ्य और शारीरिक क्षमताएँ गिरती हुई चली जाएँगी और वे मौसम के हल्के से परिवर्तनों को भी सहन करने की स्थिति में नहीं रहेंगे। तब असाध्य बीमारियाँ, नए–नए रोग इस तरह बढ़ेंगे कि असमर्थ व्यक्ति अपने आप नष्ट हो जाएँ। केवल वे लोग बचेंगे, जिनके

स्वास्थ्य वीर्य से सुरक्षित हों। यदि मनुष्य अपने आप नहीं सँभलता, तो प्रकृति को विवश होकर यह सामूहिक दंड प्रणाली मानव जाति के लिए भी लागू करनी ही पड़ेगी। आजकल बीमारियों में मृत्यु दर की वृद्धि, नए–नए रोगों की उत्पत्ति एवं प्राकृतिक आपदाएँ उसी का संकेत करती हैं। इसकी तो कल्पना करते भय लगता है। या तो जनसंख्या स्वयं एक–दूसरे को मार कर खा लेगी (युद्ध, महामारी, अकाल भी इसी के रूप हो सकते हैं) या फिर स्त्रियों में बंध्यत्व बढ़ जाएगा और वे बच्चे ही पैदा न कर सकेंगी।

हमारे लिए व्यवहार्य यही है कि हम इंद्रिय संयम और कामवासना का उदात्तीकरण सीखें। अप्राकृतिक प्रतिबंधक अवरोधों से अपने चरित्र को भी बचाएँ और अपने स्वास्थ्य, शक्ति और सामर्थ्य को भी बना रहने दें। यदि यह नहीं करते, तो प्रकृति के इस नियम और दंड के लिए भी तैयार रहना आवश्यक है।

परिवार समाज की एक इकाई है, ऐसा मानकर चलने वाले लोग, उसका पालन, संचालन एवं निर्माण इस प्रकार से ही करते हैं, जिससे समाज में सौंदर्य, स्वास्थ्य तथा सुविधा की वृद्धि हो। ऐसे लोग परिवार को संतुलित तथा सुव्यवस्थित रखने का बड़ा ध्यान रखते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि संतुलित परिवारों से जहाँ व्यक्तिगत सुख–शांति तथा आत्म–विकास में सहायता मिलती है, वहाँ समाज की व्यवस्था पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ता है। अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति को यथासंभव अपने परिवार को संतुलित तथा नियोजित रखने का प्रयत्न करना चाहिए। जहाँ असंतुलित तथा अनियोजित परिवार में अनेक प्रकार के कष्ट–क्लेशों का जन्म होता रहता है, वहाँ संतुलित तथा नियोजित परिवार में सुख–सुविधा की कमी नहीं रहती।

निस्संदेह संतुलित तथा नियोजित परिवार में गृहस्थ जीवन की सुख–शांति की सारी संभावनाएँ निहित हैं और इसके विपरीत आचरण करने पर ऐसा कोई दुःख नहीं, जो गृहस्थ

जीवन में न आ जाता हो। तुलनात्मक दृष्टिकोण से विचार करने पर यह सत्य सहज ही स्पष्ट हो जाता है।

नियोजित परिवार माने छोटा परिवार, ऐसा परिवार जिसमें हर विवाहित के एक या दो बच्चे हों, यदि परिस्थिति स्वीकृति देती हो। परिवार को संक्षिप्त रखने के प्रयत्न में सबसे पहला प्रयत्न यही होगा कि एक के बाद दूसरा बच्चा न हो। इसका एक लाभ यह भी होगा कि हर बच्चा पूरी तरह स्वस्थ पैदा होगा। उसका कारण स्पष्ट है कि बार–बार बच्चा होने के झंझट से बचे रहने से माता का स्वास्थ्य सुरक्षित रहेगा।

इसके विपरीत जिन दंपत्तियों को हर साल, दूसरे साल बच्चा होता रहता है, उनके न तो बच्चे ही स्वस्थ रहते हैं और न पत्नी। अपनी अस्वस्थता के साथ अस्वस्थ अनेक बच्चों की देखभाल और परिश्रम के साथ समुचित भोजन का अभाव उन सबको न जाने और कितने रोगों से ग्रसित कर देता है। पत्नी का सौंदर्य नष्ट हो जाता है, स्वास्थ्य खराब हो जाता है, बच्चे दिन–रात रें–रें करते रहते हैं और गृहपति बेचारा उनकी दवादारू के लिए दिन–रात परिश्रम करता रहता है। ऐसी स्थिति में वह कौन–सा शारीरिक तथा मानसिक क्लेश हो सकता है, जो उन सबको, विशेषतया दंपत्ति को नहीं मिलता।

परिवार नियोजित रहने अर्थात् एक बच्चा रहने से उसके पालन–पोषण, रहन–सहन, शिक्षा–दीक्षा, प्रतिभा तथा विशेषताएँ विकसित करने पर पूरा–पूरा ध्यान दिया जा सकता है। उसके लिए खर्च भी जुटाया जा सकता है। कितना ही हाथ तंग क्यों न हो, फिर भी एक–दो बच्चों का लालन–पालन तथा शिक्षा–दीक्षा का समुचित प्रबंध किया जा सकता है। ढेरों बच्चे होने से, उन पर जो उनमें से अधिक होनहार तथा कुशाग्र बुद्धि होते हैं और जिन पर विशेष ध्यान की आवश्यकता है, समुचित ध्यान नहीं दिया जा सकता। अनेक बच्चों में से किसी एक पर विशेष ध्यान पक्षपात जैसा होगा, जो माता–पिता के लिए कर सकना न तो संभव है और यदि कोई ऐसा करते हैं,

तो गृह–कलह के बीज बोते हैं। यदि वे दोनों बच्चे कुशाग्र बुद्धि के हैं, तब तो उन्हें हर प्रकार का प्रोत्साहन तथा प्रबंध देकर आगे बढ़ाया ही जा सकता है और यदि वे नहीं भी हैं, तो प्रयत्न बल पर उन्हें प्रतिभावान् तथा होनहार बनाया जा सकता है। **संतान सुयोग्य होकर समाज में प्रतिष्ठा पाए, यह गृहस्थ जीवन का ऐसा तीसरा सुफल है, जिसका सुख माता–पिता से सँभाले नहीं सँभलता।**

एक–दो बच्चे होने से माता–पिता अपना पूरा प्यार तथा वात्सल्य भी दे सकते हैं। माता–पिता का स्नेह बच्चों के लिए किसी भी पौष्टिक पदार्थ से हजार गुना गुणकारी होता है। जिन बच्चों को यह पूरी तरह मिलता रहता है, वे यों ही स्वस्थ तथा विकसित होते चलते हैं।

इसके विपरीत जिन माता–पिता के अनेक बच्चे होते हैं, उनका प्रेम किसी बच्चे पर भी केंद्रित नहीं हो पाता। स्नेह के प्यासे रहकर बच्चे बहुधा अविनम्र तथा अवज्ञाकारी हो जाते हैं। स्नेह न पाने से उनका हृदय भी कठोर तथा कर्कश बन जाता है। वे आपस में लड़ते–झगड़ते और बाहर जाकर दूसरों के साथ उपद्रव उत्पन्न करते हैं। रोज शिकवा–शिकायत भिजवाते और माता–पिता की प्रतिष्ठा गिराते हैं। बच्चों की इन हरकतों के कारण माता को कितनी मार्मिक पीड़ा होती होगी, इसे तो भुक्त भोगी ही बतला सकते हैं। इसी पीड़ा से कराहकर तो लोग कह उठते हैं कि "नालायक बच्चे होने से कहीं अच्छा है कि परमात्मा बिना बच्चे का ही रखे।"

इस प्रकार किसी भी दृष्टि से क्यों न देखा जाए, नियोजित परिवार हर प्रकार से सुख–शांति के हेतु तथा अनियंत्रित परिवार हर प्रकार से कष्ट–क्लेश का कारण होता है। एक–दो बच्चों के नियोजित परिवार में माता–पिता अपना संपूर्ण समय, शक्ति, उत्साह, प्रेम, पैसा आदि लगाकर उन्हें श्रेष्ठतम नागरिक बना सकते हैं। उनके शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक तथा शैक्षणिक हर प्रकार के विकास पर पूरा–पूरा ध्यान दे सकते हैं। □

संतानोत्पादन का दायित्व समझ-बूझकर उठाएँ

अब जनसंख्या बढ़ते–बढ़ते खतरे के चिह्न तक आ गई है। आधुनिक प्रयोगों से कृषि में उपज अधिक मिलने लगी है, परंतु जितना अन्न धरती उगा पाती है, खाने वाले उससे अधिक बढ़ जाते हैं। निवास की समस्या, यातायात की समस्या दिन–दिन जटिल होती चली जा रही है। स्कूलों में बच्चों के लिए जगह नहीं। इस बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए नौकरी, रोजगार, व्यापार आदि का कुछ प्रबंध बन ही पड़ रहा है। सबसे जटिल है–शिक्षित बेकारों की समस्या। न तो सरकार के पास देने के लिए नौकरी है और न प्रतिस्पर्धा में व्यापार खड़ा रह पाता है।

दुकानें 'पगड़ी' दिए बिना नहीं मिलतीं। ईमानदारी के धंधे में उतनी बचत कहाँ होती है, जिससे उतनी बड़ी रकम पगड़ी में दी जाए और फिर उसके बाद व्यापार में धन लगाया जाए। ऐसी स्थिति सर्वसाधारण की कहाँ होती है। फिर व्यापार कैसे हो? नौकरी के द्वार बंद, व्यापार की गुंजाइश नहीं, गृह उद्योगों का न तो प्रचलन है और न शिक्षण का प्रबंध, ऐसी दशा में नई पीढ़ी के लिए निर्वाह के रास्ते बंद या जटिल होते चले जा रहे हैं। कृषि की जोतें पीढ़ी–दर–पीढ़ी छोटी होती चलती हैं। छोटी जोतों में बँटी हुई खेती से तो एक भी परिवार का गुजारा नहीं होता।

इस धकापेल की भीड़ को और अधिक बढ़ाना समाज के लिए विपत्ति और राष्ट्र के लिए संकट उत्पन्न करना है। व्यक्तिगत जीवन में संतानोत्पादन से संकट ही बढ़ सकता है, उससे किसी प्रकार के वैयक्तिक या सामाजिक लाभ की आशा करना, इन परिस्थितियों में व्यर्थ है। जिनके लिए देश में जगह नहीं है, उन्हें बुलाकर केवल संकट में ही धकेला जा सकता है। हर नया बच्चा

पहले वालों की रोटी में हिस्सा बाँटता है। अस्तु, पहले वालों के लिए कमी पड़ती जाती है। हर बच्चे के हिस्से में जितना दूध आता था, नई वृद्धि के कारण उसका अनुपात घटता ही चला जाएगा। चारागाह न रहने से पशु भी कसाई के घाट उतर रहे हैं। दूध बढ़ाने की गुंजाइश तब बने जब पशुओं के चारे के लिए भूमि बचे। आदमियों के रहने और खाने की जगह नहीं बच रही है, तो बेचारे पशु कहाँ निर्वाह करें? उनकी संख्या घटेगी, तो दूध भी घटेगा। यही वृद्धि क्रम चलता रहा, तो एक–एक बूँद दूध के लिए बच्चों को तरसना पड़ेगा।

पौष्टिक खाद्य पदार्थों के अभाव में वंश परंपरा की दुर्बलता लेकर जन्मी आजकल की लड़कियाँ वयस्क होने पर अपना ढाँचा ही किसी प्रकार खड़ा रख सकें, तो गनीमत समझनी चाहिए। उन पर बच्चे उत्पन्न करने का बोझ डालना प्रत्यक्ष अत्याचार है। न उनके शरीर में रक्त और न उनकी छाती में पर्याप्त दूध होता है। ऐसी दशा में अविकसित बच्चे ही जन्म लेंगे और माता का दूध न मिलने पर असमर्थ होकर ही जिएँगे। ऐसी संतानें माता–पिता को कष्ट ही देती हैं। अपने परिवार के लिए, अपने लिए और देश के लिए भार सिद्ध होती हैं। ऐसे दुर्बलकाय प्राणी भावी पीढ़ियों को और भी गई–गुजरी बनाते चलते हैं।

कमजोर माताएँ बच्चों को जन्म देकर अपने लिए प्रत्यक्ष जीवन संकट मोल लेती हैं। हर बार का गर्भ धारण करना, उनकी जिंदगी की अवधि घटाता चलता है। प्रसव कष्ट में कितनों को ही जान गँवानी पड़ती है। जो बची रहती हैं, उनका दूध पीकर बच्चे उन्हें खोखला कर देते हैं। विवाह से पूर्व जो लड़की थोड़ी स्वस्थ लगती थी, वह एक दो बच्चों को जन्म देने के बाद ही बुढ़िया बन जाती है। अपना शरीर संभालना ही कठिन पड़ रहा था, फिर दो–दो, तीन–तीन बच्चों को कैसे सँभाला जाए? बेचारी जिंदगी और मौत के बीच झूलती रहती हैं। सारा जीवन नीरस हो जाता है। रूप, आकर्षण एवं यौवन का उभार

ढल जाने से पतियों के व्यवहार में जो अंतर आ जाता है, वह और भी अधिक निराश करता है।

संतानोत्पादन माता के लिए ही विपत्ति बनकर नहीं आता, वरन् पिता की भी पिटाई करता है। इस मँहगाई के जमाने में बच्चे पालना, हाथी पालने जैसा है । भोजन, वस्त्र, दवा, शिक्षा कितनी मँहगी हैं, उसका हिसाब लगाने से बच्चे और बड़े आदमी में कोई खास अंतर नहीं रह जाता। विवाह–शादियों में जो रस्म–रिवाज हैं, वे बुरी तरह प्राण खींचते हैं। कन्याओं के विवाह की समस्या मध्यम वर्ग के लिए फाँसी के फंदे जैसी है। लड़कों को काम–धंधे में लगाना, उन्हें स्वावलंबी बनाना भी साधारण काम नहीं है।

जब तक बच्चे नहीं होते, तब तक लगता है, न जाने क्या कमी रह गई और जब होते हैं, तो लगता है, न जाने क्या सौभाग्य आ धमका, पर जैसे ही वास्तविकता सामने आती है, पता लगता है कि मछली के काँटा निगलने जैसी भूल हो गई। इस जंजाल में मनुष्य कुछ ही दिनों में इस बुरी तरह जकड़ जाता है कि आए दिन की समस्याओं से रोज ही रोते–खीझते निबटना पड़ता है। कोई बड़ा काम करने की, किसी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति की बात तो सपना ही हो जाती है।

किसी जमाने में धार्मिक मान्यता थी कि बच्चे पिण्ड दान देते हैं, तो पुरखों की परलोक में सद्गति होती है। कभी सोचा जाता था कि वंश चलता है, नाम रहता है। ये मूढ़ मान्यताएँ ऐसी बेतुकी हैं कि विचार करने पर इनमें रत्ती भर भी तथ्य दिखाई नहीं पड़ता। मनुष्य को अपने ही भले–बुरे कर्मों का पुण्य–पाप मिलता है। वंश, सत्कर्मों के द्वारा उपलब्ध हुए यश से चलता है। फिर दो–तीन पीढ़ी के बाद तो वंशधर नाम तक भूल जाते हैं। तीन–चार पीढ़ियाँ अस्सी बरस में बीत जाती हैं। इतने दिनों में ही नाम भुला दिया गया, तो उससे बरगद के पेड़ लगा देना अच्छा, जिससे दो सौ वर्ष तो नाम वंश चले। ये निरर्थक मान्यताएँ हैं, जिनमें नासमझ लोग ही उलझे रह सकते हैं। बुढ़ापे में संतान

सहारा देगी, इस मृगतृष्णा की वास्तविकता को अपने चारों ओर दृष्टि पसार कर भली प्रकार देखा, समझा जा सकता है कि आज की औलाद अपने माँ–बाप से किस तरह पेश आती है।

बच्चे के इच्छुक हर नर–नारी को यह उत्तरदायित्व उठाने से पूर्व हजार बार विचार करना चाहिए कि उसमें शारीरिक, आर्थिक और बौद्धिक क्षमता इतनी है भी कि भावी संतानों का ठीक प्रकार उत्तरदायित्व वहन कर सके? यदि पूरी तरह अपनी क्षमता दिखाई पड़े, तो यह दुस्साहस करना चाहिए, अन्यथा बुद्धिमानी इसी में है कि संतानोत्पादन को इस जमाने में एक भारी जोखिम मानकर उससे दूर रहा जाए। बिना संतान का दांपत्य जीवन अपेक्षाकृत अधिक सुखद और अधिक शांतिपूर्ण होता है। इस तथ्य की यथार्थता को बिना बच्चे वाले लोग बच्चे वालों की दुर्दशा को देखकर ही दूसरों के अनुभव के आधार पर ही समझ लें, यही श्रेयस्कर है।

इन सब समस्याओं के सुलझाने का तथा परिवार और समाज में सुख–शांति लाने का उपाय है–परिवार नियोजन। यदि प्रत्येक माता–पिता यह निश्चय कर लें कि एक बच्चे से अधिक संतान उत्पन्न नहीं करेंगे, तो कठिनाइयाँ सुलझ सकती हैं। माँ का स्वास्थ्य सुधरेगा, पिता की चिंताएँ कम होंगी, बालक का पूर्ण विकास हो सकेगा तथा समाज में सुख–शांति बनी रहेगी।

बढ़ती हुई आबादी प्रत्येक दृष्टि से हानिकारक है। सर्वप्रथम हम परिवार को और उसमें भी माँ को ही लें। माँ के रक्त, मज्जा आदि से बालक का निर्माण होता है । नौ मास कष्ट सहकर वह उसे गर्भ में धारण करती है। दुग्ध रूप में परिणत अपने रक्त से पालती है तथा बड़े होने तक अन्य अनगिनत कष्ट सहन करती है।

ज्यों–ज्यों बच्चे बढ़ते हैं, पिता के उत्तरदायित्व भी बढ़ते जाते हैं। नौकरी या व्यापार से उसे सीमित धन मिलता है, परंतु बच्चे बढ़ने के साथ–साथ उनकी शिक्षा, वस्त्र, भोजन आदि की समस्याएँ बढ़ती जाती हैं। उस पिता की मनःस्थिति को सोचिए,

जो अपने बच्चों के लिए घी, दूध तो क्या भोजन भी न जुटा पाता हो, उन्हें अधिक बच्चे होने के कारण किसी को भी समुचित शिक्षा न दिला पाता हो। दुर्भाग्य से कहीं उसके दो–चार लड़कियाँ भी हुईं, तो उनके विवाह और दहेज की चिंता करते–करते उसका मन ही नहीं अपितु तन भी घुलता जाता है।

अब हम बच्चों को लें। यदि एक बालक होगा, तो निश्चित ही उसे अच्छा भोजन, अच्छी देखरेख मिल सकेगी। माता–पिता का पूरा–पूरा अवधान तथा दुलार उस पर रहेगा, जो कि उसके व्यक्तित्व के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाहेगा। माता–पिता कष्टों में रहकर भी उसे शिक्षा दिलाने का प्रयास करेंगे। अधिक बालक होने पर न तो सबकी उचित देखरेख ही संभव है और न एक मध्यमवर्गीय तथा निम्नवर्गीय परिवार के लिए उन्हें पौष्टिक भोजन दे पाना ही संभव है। अधिक बच्चे तो परिवार में प्रायः उपेक्षित से घास–फूँस की भाँति बढ़ते हैं और माता–पिता का समुचित निर्देशन और स्नेह न पाकर अपराधी भी बन जाते हैं।

सामाजिक पहलू को देखें तो वह और भी अधिक दयनीय है। देश में पौष्टिक भोजन की कमी है, खाने वाले अधिक हैं, दूध की बात तो दूर रही, पेट भर भोजन पाना भी कष्टसाध्य है। परिणामतः पौष्टिक भोजन के अभाव में शरीर कमजोर होता जा रहा है और नई पीढ़ी दुर्बल और शक्तिहीन–सी होती जा रही है। आबादी अधिक होने के कारण बालकों को न तो अच्छी शिक्षा मिल पाती है और न नौकरी। परिणाम यह होता है कि उनकी विविध उच्छृंखलताएँ अपराधों और विघटनात्मक कार्यों के रूप में फूटती हैं, जिससे समाज की सुख–शांति को खतरा उत्पन्न होता है।

संतानोत्पादन के कृत्य में हाथ डालने वाले आमतौर से ट्रैक्टर खरीदने से भी बढ़े–चढ़े लाभ मिलने के सपने देखते हैं। बेटी नहीं, निश्चित रूप से बेटा ही होगा, वंश चलेगा, पितरों को पिंडदान मिलते रहेंगे, बुढ़ापे का सहारा होगा और नाम रोशन

करेगा, सदा सेवा करेगा और आज्ञानुवर्ती रहेगा, रूप और गुण का धनी होगा। जिस दिन से भ्रूण स्थापित होता है, उसी दिन से इन्हीं सपनों के रंग–बिरंगे, सुनहरे चित्र गढ़े जाते रहते हैं। मस्तिष्क पर वे ही छाए रहते हैं, पर वास्तविकता किस रूप में सामने आएगी, यह कहना कठिन है। काली–कुरूप लड़कियाँ होती चली गईं। उनके लिए वर ढूँढ़ना और दहेज जुटाने का प्रश्न सामने आएगा, तब उसका हल किस प्रकार निकलेगा, यह सब अविज्ञात के आँचल में ही छिपा रहता है।

प्रजनन जैसे कार्य की कल्पना करने, उसकी ओर कदम बढ़ाने वालों को सौ बार सोचना चाहिए कि जो उत्पन्न किया जा रहा है, उसके लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि बनी या नहीं। किसान फसल काटने और उसे जमा करने का प्रबंध करने से पूर्व खेत की जुताई, खाद, पानी आदि की व्यवस्था पहले करता है। इस ओर आँखें बंद किए रहने और कुछ भी किसी भी समय बो देने पर मनचाही फसल के सपने देखना, ऐसा ही है, जैसा शेखचिल्ली का परिवार बसाना।

माता–पिता का अपना स्वास्थ्य सुदृढ़, आयु परिपक्व और अनुभव समुचित होना चाहिए। जिन विशेषताओं को बालकों में देखना है, उनका सबका वर्षों पहलें स्वयं अभ्यास करना चाहिए। बच्चा माता के उदर में अपने स्तर का निर्माण एक बड़ी सीमा तक कर लेता है, अतएव जन्मदात्री के लिए वैसी सुविधा, शिक्षा, प्रसन्नता का प्रबंध होना चाहिए, जिससे उस संबंध में कोई अभाव रहने के कारण बालक विद्रोही होकर न जन्मे। ☐

हम यह स्मरण रखें कि हम समाज की एक इकाई हैं। व्यक्तिगत हमारा कोई जीवन नहीं, न ही उसका कोई अस्तित्व है। समूह में रहकर ही जब अगले दिनों जीना है, तो क्यों न सबका हित साधन करते हुए जीएँ। इसके लिए आचार संहिता बनानी पड़े, तो वह भी बनाई जाए। मर्यादित, अनुबंधित जीवन ही सहयोग–सहकार के आधार पर मानव के भविष्य को जीवित बनाए रख सकता है।

बदलती परिस्थितियों में विचार भी बदलें

अमेरिका के एक वैज्ञानिक श्री मार्सटन बेट्स ने भविष्यवाणी की है, ''यदि अगली शताब्दियों में विश्व की जनसंख्या वर्तमान गति से ही बढ़ती रही, तो विश्व के कुल जनसमूह का वजन उतना हो जाएगा, जितना कि पृथ्वी का वजन है अर्थात् पृथ्वी का भार दूना हो जाएगा।'' जैसे–जैसे जनसंख्या बढ़ी, जटिलता बढ़ती गई और उसी अनुपात से स्वास्थ्य, आरोग्य, आजीविका, संरक्षण, खाद्य पदार्थ, निवास–स्थान, शिक्षा, सामाजिकता, अपराध आदि समस्याएँ भी बढ़ती गईं। आज तो जनसंख्या वृद्धि के कारण सारा संसार ही एक समस्या बन गया है।

सरकारी कानून में एक 'दफा' है कि बलात्कार, व्यभिचार करने वाले को लंबे समय की सजा भुगतनी पड़ती है। ईश्वर के यहाँ कानून तो नहीं, पर कुचक्र एक ऐसा है कि कामुकता को नियति समझकर उस कुचक्र में फँस जाने वाले को हर जुर्म में प्रायः बीस वर्ष की सजा होती है। कामुकता का परिणाम बच्चा उत्पन्न होना होता है। उनके लालन–पालन, शिक्षा–दीक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन, पढ़ाई, शादी से लेकर उसके लिए कुछ उत्तराधिकार में छोड़ मरने के लिए दिन–रात ईमानदारी, बेईमानी से किसी भी प्रकार कुछ करते रहना पड़ता है। यह सिलसिला एक के बाद दूसरे के क्रम में से आगे बढ़ने लगता है और एक बच्चा पैदा करने की सजा बीस वर्ष भुगतनी पड़ती है। इस अवधि में शारीरिक, मानसिक श्रम, समझदारी, नैतिक गिरावट आदि के कुचक्र में ही प्रायः सारा समय खप जाता है।

हर समझदार आदमी को देश की, अपनी निज की समस्याओं को समझते हुए जनसंख्या बढ़ाकर देशद्रोह का भाजन नहीं

बनना चाहिए। इन दिनों तो जो इस अनर्थ से जितना बच सके, वह उतना ही विचारशील और समाज सेवा में हाथ बँटाने वाला व्यक्ति माना जाएगा।

संतान बुढ़ापे में सहारा बनेगी, यह सोचना भी वर्तमान परिस्थितियों में सर्वथा भूल है। नए जोड़ों को अपने और अपने बच्चों की समस्या हल करते ही नहीं बन पड़ती, फिर बड़े–बूढ़ों की सेवा–सहायता करने की आशा करना तो और भी व्यर्थ है। वातावरण को देखते हुए यह किसी को भी आशा नहीं करनी चाहिए कि हमारे घर श्रवणकुमार पैदा होंगे। आज का अर्थशास्त्र तो बूढ़े–निकम्मे पशुओं की तरह दुर्बल,रोगी और बिना कमाऊ बूढ़ों को भी किसी प्रकार कहीं ठिकाने लगा देने की ही सोच रहा है। ऐसी दशा में बच्चों से सेवा–सहायता पाने की अपेक्षा यही सोचना चाहिए कि उन पर अपनी जिम्मेदारियाँ लादे बिना ही जीवन से छुटकारा पा लिया जाए, तो अच्छा है। पिंडदान मिलने पर स्वर्ग जाने जैसी मान्यताओं को तो अब पूरी तरह छोड़ ही देना चाहिए।

जिस प्रकार अनेक कुरीतियों का अब खंडन होने लगा है, उसी प्रकार अब यह मान्यता भी बदली जानी चाहिए कि बच्चे बढ़ाकर स्त्री का स्वास्थ्य, अपना आर्थिक भार और बच्चे का भविष्य खराब करने की अपेक्षा यही अच्छा है कि प्रजनन से जो जितना बच सके, वह अपने को उतना ही बुद्धिमान माने और अपनी समझदारी को सुसंपन्नता का निमित्त कारण समझे।

स्त्रियाँ सोचती हैं कि प्रजनन एक प्रकार से मौत से जूझना है। महिलाओं की मृत्यु में एक बहुत बड़ा भाग प्रसव–कष्ट में मर–खप जाने वालियों का ही होता है। छुरों के गोदे जाने वाली, घोर तड़पाने वाली व्यथा सहने और अपने स्वास्थ्य रस को निचोड़ कर खोखली हो जाने में किस महिला को क्या लाभ हो सकता है ? जितना समय कोई नारी ज्ञानवृद्धि, स्वास्थ्यरक्षा, आजीविका उपार्जन, गृहव्यवस्था, समाजसेवा जैसे महत्त्वपूर्ण कामों में लगाकर बहुत कुछ हित साधन कर सकती है, उसे

बच्चे जनने और पालने में लगाकर उसे क्या मिलता है ? माता बनने के बाद उनकी व्यक्तिगत प्रतिभा एवं प्रगति का एक प्रकार से अंत ही हो जाता है। आजीविका के लिए वे नितांत पराश्रित हो जाती हैं।

वृद्धावस्था में संतान सेवा करेगी, तब काम चलेगा, ऐसा सोचना आत्महीनता का, आत्मविश्वास के अभाव का ही द्योतक है। परावलंबी जीवन की आकांक्षा करने वाले एक प्रकार से मृतक ही कहे जाएँगे। आज के वातावरण में जबकि पारिवारिक कर्त्तव्य स्त्री–बच्चों तक भी ठीक तरह कोई नहीं निभा पा रहा है, तब बूढ़े माँ–बाप पर बेटे क्या चँवर ढुलाएँगे ? इन मूर्खताओं से जितनी जल्दी जमीन पर उतर आया जाए, उतना ही अच्छा है। मरते समय तक बुड्ढे को अपनी हड्डियाँ कोल्हू में पेल कर उनका तेल बेटे–पोतों पर चुपड़ते रहना पड़ता है। उसमें कमी पड़ती है, तो सारे परिवार की आँखें किस तरह लाल–पीली होती हैं, इसे कोई भी नजर पसार कर देख सकता है। समय की माँग है कि कामेच्छा और प्रजनन में अंतर किया जाना चाहिए। जिस वेग से संख्या वृद्धि हो रही है, उस क्रम से साधनों की बढ़ौत्तरी कितना ही प्रयत्न करने पर भी नहीं हो सकती। साधनहीन जनसंख्या को दुर्गति सहन करनी पड़ती है और उस दुर्गति की सड़न एवं दुर्गंध से सारा सामाजिक वातावरण विषाक्त होता है। इस स्थिति में व्यक्ति और समाज को समान रूप से दुःख भोगना पड़ता है। संतान से जो इच्छा किन्हीं विरलों की ही पूरी होती है, वे गौरव की, कमाई खिलाने की, सेवा मिलने की है। आज के समय में ऐसे सपूतों के दर्शन दुर्लभ हैं। बुड्ढे माँ–बाप को एक भार समझा जाता है, उनकी मृत्यु की प्रतीक्षा की जाती है। जवान बेटा घर का मालिक होता है, बुड्ढे के हाथ में कोई शक्ति नहीं रहती, वह पराश्रित हो जाता है, अपनी इच्छा पूर्ति के लिए कमाऊ बेटे के मुँह की ओर ताकता है, उसकी टेढ़ी भवों को देखकर सहम जाता है। चौपाल की चर्चा में तो बुड्ढे को ही बाप कहा जाता है, पर व्यावहारिक रूप

में बेटा बाप बन जाता है, बाप को बेटे की तरह रहना पड़ता है। जवानी के नशे में अक्सर आज के बेटे बाप का सम्मान तो नहीं करते हैं, अपितु अवसर आने पर अपमान तक करने में नहीं चूकते। जो बड़े–बड़े मनसूबे आप बाँधा करता था, बेटे से जिस व्यवहार की आशाएँ किया करता था, समय आने पर वह बालू का महल बिस्मार हुआ दिखाई देता है। किन्हीं विरलों की ही यह इच्छा पूर्ण होती है।

इस बढ़ी आबादी के लिए अन्न जुटाना मुश्किल हो रहा है। चारागाह जोत डाले गए हैं। पशुओं के चरने की जगह छीन कर खेती की जा रही है, पर आवश्यकता भर के लिए अन्न पूरा नहीं होता। फलस्वरूप भुखमरी और बीमारी से एक बड़ी जनसंख्या काल के गाल में चली जाती है। ऐसी स्थिति में और अधिक आबादी बढ़ाना, देश के लिए भार रूप है। सभी विचारक इस बात की बड़ी आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं कि देश में अर्थ–संकट उत्पन्न नहीं करना है, तो जिस तेजी से जनसंख्या बढ़ रही है, उसे रोका जाए। महात्मा गांधी ब्रह्मचर्य द्वारा संतान निरोध की अपील करते हैं। दूसरे विद्वान इसके लिए कृत्रिम उपायों तक का सुझाव पेश करते हैं। जो हो, इतना निश्चित है कि जनसंख्या की वृद्धि से विश्व की, मानव जाति की कठिनाइयाँ बढ़ती हैं, घटती नहीं। यदि जन्म–दर घटाई नहीं गई, तो एक दिन ऐसा आएगा कि धरती पर लोगों का खड़े रहना भी कठिन हो जाएगा। वस्तुतः जनसंख्या की बाढ़ परमाणु अस्त्रों से भी अधिक घातक है, क्योंकि वे मानव–देह को ही नष्ट करते हैं, परंतु तीव्रता से बढ़ती हुई आबादी इतनी विकट समस्याएँ उत्पन्न करती है कि वह तो मानव का आत्मगौरव तथा आत्मशक्ति ही नष्ट कर देती है।

अन्य देशों की अपेक्षा हमारे देश में जनसंख्या अधिक तीव्रता से बढ़ती जा रही है। जनसंख्या की वृद्धि के साथ–साथ पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि सभी क्षेत्रों में असंख्य समस्याएँ खड़ी हो गई हैं। न लोगों को खाने को पौष्टिक भोजन मिलता है, न रहने को शुद्ध जलवायु तथा समुचित

स्थान। शैक्षणिक सुविधाएँ भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं हो पातीं। स्कूलों तथा कॉलेजों में अनेक छात्र–छात्राएँ प्रवेश पाना चाहते हैं, परंतु वहाँ भी स्थान का अभाव है। आर्थिक दरिद्रता बढ़ती जा रही है। आम जनता को तन ढकने को वस्त्र भी पूरी तरह से उपलब्ध नहीं हैं। हमारे यहाँ साल भर में औसत रूप से एक व्यक्ति १६ गज कपड़े का उपयोग करता है, जबकि अमेरिका में प्रति व्यक्ति ४० गज से भी अधिक वस्त्रों की खपत है। बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ बेकारी की समस्या भी सुरसा के मुख की भाँति बढ़ती ही जा रही है, जिससे देश की युवा–शक्ति का ह्रास हो रहा है तथा उसमें विविध कुंठाएँ तथा अपराध बढ़ रहे हैं।

यदि हम देश के प्रति सच्चे अर्थों में वफादार बनना चाहते हैं, तो हमारा प्राथमिक कर्त्तव्य है कि अधिक बच्चे उत्पन्न कर समस्याएँ न बढ़ाएँ। प्राचीन समय में तो महामारियों तथा प्राकृतिक विप्लवों के द्वारा प्रकृति स्वयं ही जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण कर लेती थी, परंतु आज हमने रोगों पर, अकाल तथा प्राकृतिक बाधाओं पर भी विजय प्राप्त कर ली है। परिणाम यह हुआ है कि एक ओर जहाँ जन्म दर में वृद्धि हो रही है, मृत्यु दर घटती जा रही है।

वस्तुतः यदि एक संतान को ही सर्वगुण संपन्न बनाया जाए, तो वही देश के प्रति सबसे बड़ी श्रद्धांजलि है। इसी में हम सबका हित निहित है। बच्चे उत्पन्न करना आज व्यक्तियों का वैयक्तिक विषय नहीं रहा है, अपितु इससे समस्त मानव जाति का सुख–स्वास्थ्य प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हो रहा है। □

युग की आवश्यकता के अनुरूप धर्म धारणा या नीति–निष्ठा के सूत्रों को दस वर्गों में विभाजित किया गया है। १. शालीनता, २. दूरदर्शिता, ३. तत्परता–सुव्यवस्था, ४. ईमानदारी, ५. जिम्मेदारी, ६. आस्तिकता, ७. परमार्थ परायणता, ८. संयमशीलता, ९. उदार आत्मीयता, १०. प्रखरता।

स्वर्ग सीमित परिवार वालों को मिलेगा

प्राचीन भारतीय समाज के चिंतकों की दृष्टि में यह तथ्य स्पष्ट था कि अधिक संतान पैदा करना पुरुषार्थ नहीं, दुःख–कष्टों का आमंत्रण है। विश्व के सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में स्पष्टता से कहा गया है–"अधिक संतानें सदा कष्ट का कारण बनती हैं।"

वरमेको गुणी पुत्रो, निर्गुणैश्च शतैरपि।
एकश्चंदस्तमो हन्ति, न तु ताराः सहस्त्रशः॥

अर्थात् सैकड़ों मूर्ख बेटों की अपेक्षा एक गुणी पुत्र श्रेष्ठ है। जैसे अकेला चाँद अंधकार को दूर करता है, हजारों तारे नहीं। उसी प्रकार एक गुणी पुत्र समाज में अंधकार दूर करता व प्रकाश फैलाता है।

अधिक जनसंख्या होने पर सरकारें आहार, शिक्षा, चिकित्सा, आवास, आजीविका एवं यातायात संबंधी पर्याप्त व्यवस्था नहीं कर पातीं । ऐसे में अव्यवस्था, अराजकता, असामाजिकता फैलती है। अतः आज की स्थिति में तो सीमित संतानों का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है। संतान पैदा करना आसान है, उसके प्रति जिम्मेदारी का समुचित निर्वाह बहुत कठिन है। उस दायित्व को निभा नहीं पाए, तो संतान ऐसी निकलेगी, जो कुल को कलंकित करे और समाज पर भार बने। वैसे भी संतान के कारण यश किसको मिलता है ? वृद्धावस्था में पुत्र से संरक्षण और सुख पाने की आशा भी मृगमरीचिका है। बालक यदि सुसंस्कारी नहीं रहा, तो वह वृद्धावस्था में त्रास ही देगा, सुख नहीं।

कई लोग वृद्धावस्था में संरक्षण और सेवा की आशा से

संतान का होना आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि वृद्धावस्था में जब हमारी शारीरिक शक्तियाँ क्षीण हो जाएँगी, तो कौन खिलाएगा? यह निरी मृगतृष्णा है और आज के युग में तो वयस्क संतानों से भरण–पोषण तथा सेवा–सुश्रूषा की आशा करना एक भयंकर छलावा है। वर्तमान स्थिति में ही कितने पुत्र अपने माँ–बाप को रोटी देते हैं ? जो हमारी संतानें भी हमें देंगी। हम अपने माता–पिता की सेवा–सुश्रूषा करते भी हैं, तो भी यह मान कर चलना गलत है कि आने वाली पीढ़ी हमारी रोटी का प्रबंध करेगी, क्योंकि जैसे–जैसे मनुष्य का जीवन जटिल होता जा रहा है, वैसे–वैसे उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जा रही हैं और भविष्य की पीढ़ी उन आवश्यकताओं को पूरा करने में ही इतनी व्यस्त होगी कि माँ–बाप की चिंता करना उसके लिए कठिन होगा।

किसी भी संतान वाले से जाकर पूछा जा सकता है कि वह बेटे–पोतों अथवा बेटी–जमाई से क्या सुख पा रहा है? निश्चय ही अधिकांश लोग रोते और अपने भाग्य को कोसते मिलेंगे। आप उनसे संतान–सुख का प्रश्न कीजिए और वे दुःख–क्लेशों का चिट्ठा खोलकर बैठ जाएँगे, परेशानियाँ और चिंताएँ गिनाने लगेंगे। फिर भी पता नहीं कि लोग संतान के लिए क्यों तो इतने लालायित रहते हैं और क्यों अपने को अभागा समझते हैं? बहुत बार तो लोग एक स्त्री के होते हुए भी पुत्र की इच्छा से दूसरा विवाह कर लिया करते हैं। तब उन्हें कुछ समय बाद किस विपत्ति का सामना करना पड़ता है, यह तो भुक्तभोगी ही जानते होंगे। हाँ देखने वाले इतना जरूर देखते हैं कि उनके घर में दिन–रात कलह मची रहती है। न रात चैन न दिन चैन। दो पत्नियों के बीच बेचारा पुरुष निरीह घुन की तरह पिसा करता है।

यह प्रश्न व्यक्तिगत नहीं है। इस नए दायित्व का दबाव अभिभावकों या परिजनों पर ही नहीं, वरन् उससे समूचा देश, समूचा विश्व प्रभावित होता है। बूँद–बूँद मिलने से घड़ा भरने या

जलाशय बनने की उक्ति चरितार्थ होती है । इस प्रकार आवास और निर्वाह की समस्या जटिल हो गई है। वायु प्रदूषण भी इसी कारण बढ़ा है। घिचपिच से अनेक कठिनाइयाँ बढ़ती हैं। जनसंख्या की वृद्धि ऐसी ही विनाशकारी दुष्प्रवृत्ति है, जो सीमा का उल्लंघन करने पर समस्त संसार के लिए, प्राणी–मात्र के लिए विपत्ति का कारण बन सकती है। इसे समय रहते रोकने में ही समझदारी है।

संसार भर में जनसंख्या चक्रवृद्धि गति से अत्यंत तेजी से बढ़ रही है और इतनी तेजी से बढ़ रही है कि निर्वाह के प्राकृतिक साधनों का पूरे उत्साह के साथ दोहन करने पर भी वे सर्वथा अपर्याप्त सिद्ध हो रहे हैं। अब कृषि योग्य जमीनों का चप्पा–चप्पा कुरेद डाला गया है। खाद्य उत्पादन में सारा कौशल झोंक दिया गया है, फिर भी हर दिशा से 'अपर्याप्त' का हा–हाकार सुनाई पड़ रहा है। माँग अधिक और उत्पादन कम होने के कारण महँगाई आकाश चूमने लगी है। घास पर निर्वाह करने और नकली दूध बनाने की तैयारियाँ चल पड़ी हैं। बढ़ती हुई आबादी के लिए अन्न, वस्त्र, निवास, रोजगार, वाहन, शिक्षा, चिकित्सा जैसी अनिवार्य आवश्यकताओं को जुटा सकना कठिन पड़ रहा है। सरकारें अनेक प्रकार की विकास की योजनाएँ बनाती हैं, किंतु उनकी सफलता बढ़ती हुई आबादी के कारण जलते तबे पर पानी की बूँदें पड़ने की तरह अपर्याप्त सिद्ध होती है।

अर्थशास्त्रियों की दृष्टि में संसार की सबसे बड़ी समस्या बढ़ती हुई आबादी है। दूरदर्शी विचारकों ने मानव समाज को चेतावनी दी है कि यदि प्रजनन का उत्साह न रुका, तो एक शताब्दी के भीतर ही आधी जनसंख्या को निर्वाह साधनों के अभाव में तड़प–तड़प कर प्राण देने पड़ेंगे। धरती की उत्पादन शक्ति सीमित है। वह असंख्य जनसंख्या के लिए आहार नहीं दे सकती। कोई सरकार शिक्षा, यातायात, उद्योग, व्यवसाय, सुविधा–साधनों की सीमित व्यवस्था ही कर सकती है।

अब चिकित्सा आदि के सुविधा साधन बढ़ गए हैं। अस्तु मृत्यु दर घट रही है और मनुष्य की औसत आयु बढ़ोत्तरी पर है । फलतः जन्म–दर की तुलना में मृत्यु–दर कम हो गई है और आबादी तेजी से बढ़ रही है। इस कुचक्र का सामना कर सकना किसी सरकार के लिए संभव नहीं हो सकता। आजीविका, शिक्षा, चिकित्सा, यातायात आदि के साधन एड़ी–चोटी एक करने पर भी उतने नहीं जुट सकते, जितनी कि आबादी बढ़ जाती है। अस्तु अभाव और संकट निवारण के लिए किए गए सारे प्रयास बेकार हो जाते हैं, समस्याएँ जहाँ की तहाँ खड़ी रहकर और आगे बढ़ जाती हैं, फलतः असंतोष बढ़ता और अशांति फैलती है। जो जितने अधिक बच्चे पैदा करता है, वह संसार में उतनी ही अधिक कठिनाई उत्पन्न करता है और समाज का उसी अनुपात से भार बढ़ाता है। जबकि करोड़ों लोगों को आधे पेट सोना पड़ता है, तब नई आबादी बढ़ाना, उन भूखों के ग्रास छीनने वाली नई भीड़ खड़ी कर देना है। आज की स्थिति में संतानोत्पादन को दूसरे शब्दों में समाजद्रोह का पाप कहा जाए, तो तनिक भी अत्युक्ति नहीं होगी।

पिता को इस संतानोत्पादन से क्या मिला ? उसका आर्थिक भार ही लगातार बढ़ता गया। बच्चे की बढ़ती हुई आयु अधिक खर्च की माँग करती है। नवजात शिशु भी लगभग वयस्कों के बराबर ही खर्च करा लेते हैं। उनका दूध, खिलौने, आकर्षक कपड़े, साज–सँभाल की व्यवस्था, दवादारू आदि में थोड़ा–थोड़ा करके भी ढेरों पैसा चला जाता है। वे बड़े होते हैं, तो अधिक दाम के कपड़े, जेब खर्च, शिक्षा खर्च की रकम बढ़ती है। विवाह–शादी, उन्हें काम–धंधे में लगाना और उत्तराधिकार में कुछ न कुछ छोड़ने का खर्च जोड़ा जाए, तो वे आँकड़े चौंकाने वाले होते हैं। जिनके कई बच्चे हैं, वे अगर हिसाब लगाने बैठें तो पता चलेगा कि जन्म से लेकर स्वावलंबी होने तक की अवधि में उन पर कितनी बड़ी धनराशि खर्च हो गई है। उनके लिए कितनी अधिक चिंता करनी पड़ी है। उनके

लिए आवश्यक साधन जुटाने में अनुपयुक्त तरीके अपनाने के लिए विवश होना पड़ता है। प्रजनन के लिए आरंभ में अति उत्साही व्यक्ति कुछ ही समय में अपनी मूर्खता अनुभव करते हुए सिर धुनकर पछताते हैं और सोचते हैं कि जिसे लाभ या वरदान समझा गया था, वह भारी घाटे से, संकट से लदा अभिशाप भर था।

दरिद्रता के वातावरण में जन्मे बालकों का शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक विकास अधूरा एवं विकृत ही रहता है। इस स्तर पर बढ़ती हुई जनसंख्या अपने समय तथा समाज के लिए मात्र कठिनाइयाँ और समस्याएँ ही उत्पन्न करती है। दुर्बल शरीर वाली पीढ़ियाँ अपने गुजारे भर के लिए पर्याप्त उत्पादन नहीं कर सकतीं, फिर राष्ट्रीय समृद्धि में तो उनका योगदान होगा ही क्या? आए दिन बीमार पड़े रहने वाले लोग स्वयं कष्ट पाते हैं, घर वालों पर भार बनते हैं, दवादारू पर पैसा बर्बाद कराते हैं। ◘

धर्म संप्रदाय आदि के आधार पर पृथक् वर्ग मान लेने का कोई औचित्य नहीं है। तत्त्वदर्शन एवं पूजा–उपचारों की दृष्टि से मनुष्य अपने स्वतंत्र विचार रख सकते हैं। घर का एक व्यक्ति शैव हो, तो दूसरा वैष्णव हो सकता है। एक गणेश जी को पूजता है, तो दूसरा हनुमान जी का भक्त हो सकता है। एक को जैन मत भाता है, तो दूसरे को बौद्ध दर्शन प्रिय लगता है। विचार स्वातंत्र्य की इतनी छूट होनी चाहिए। एक को बैंगन अच्छा लगता है, तो दूसरे को आलू। एक कुर्ता पहनता है, तो दूसरा कमीज। मनुष्य का यह अपना चुनाव है, अपनी रु झान है। इस भिन्नता के कारण ऐसा नहीं होना चाहिए कि हर कोई अपनी पसंद की एक स्वतंत्र बिरादरी बनाए। अपना एक कट्टर संप्रदाय खड़ा करे। इतना ही नहीं उससे भी दस कदम आगे बढ़कर आपस में एक–दूसरे को नीच–ऊँच ठहराने लगे।

जनसंख्या वृद्धि का भयावह दृश्य एवं हमारे प्रयास

भारत की जनसंख्या की भयावहता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि पूरे विश्व की भूमि का २.४ प्रतिशत भाग हमारे देश का है, जबकि भारत में जनसंख्या सारे विश्व की जनसंख्या की १६ प्रतिशत है। एक सर्वेक्षण के अनुसार बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए हमें प्रतिवर्ष १ लाख २७ हजार नए स्कूल तथा ३ लाख ७५ हजार नए शिक्षकों की आवश्यकता होगी। इनके रहने के लिए २५ लाख नए घर, ४० लाख नई नौकरियाँ, १९ करोड़ मीटर कपड़ा और १ करोड़ २५ लाख क्विंटल अतिरिक्त अन्न की आवश्यकता होगी। भारतीय जनगणना विभाग के अनुसार भारत की जनसंख्या ११ मई २००० को १ अरब हो गई अर्थात् विश्व के ६ व्यक्तियों में एक भारतीय है। हमारे प्राकृतिक और कृत्रिम संसाधन जनसंख्या वृद्धि के अनुपात में कम पड़ रहे हैं। भारत की जनसंख्या सोवियत संघ और अमेरिका की सम्मिलित जनसंख्या की दोगुनी है। इंग्लैंड और फ्रांस की जनसंख्या का ८ गुना, जर्मनी का १२ गुना, आस्ट्रेलिया का ५५ गुना और जापान का ८ गुना है। हमारे देश में प्रति मिनट २९ बच्चे जन्म लेते हैं अर्थात् प्रति घंटे१७४०, प्रतिदिन ४१७६०, प्रतिमाह १२५२८०० और प्रतिवर्ष १५२४२४०० बच्चे जन्म लेते हैं अर्थात् प्रतिवर्ष हम एक आस्ट्रेलिया पैदा करते हैं। भारत की कुल कृषि योग्य भूमि १६.६ करोड़ हेक्टेयर है, इसमें से १४.१ करोड़ हेक्टेयर भूमि पर ही खेती होती है। इस जमीन की उपज से जनसंख्या को पर्याप्त खाद्यान्न उपलब्ध कराना संभव नहीं है। भारत में १०० एकड़ कृषि भूमि पर १३० व्यक्ति आश्रित हैं, जबकि अमेरिका

में ३८, कनाडा में २५, आस्ट्रेलिया में २७ और फ्रांस में ८९ व्यक्ति आश्रित हैं अर्थात् खाद्यान्न उत्पादन के मामले में हमारी स्थिति अत्यंत निराशाजनक है। कम खाद्यान्न कमजोर शारीरिक क्षमता वाले लोगों की संख्या बढ़ा रहा है। इसी कारण अल्प पोषित, गरीब और नागरिक सुविधाओं से वंचित व्यक्तियों की संख्या बढ़ रही है। परिणामस्वरूप बेरोजगार नौजवान, सड़कों पर घूमते भिखारी, फुटपाथों पर जीवन गुजारते व्यक्ति, भूमिहीन मजदूर अनियंत्रित जनसंख्या वृद्धि के परिणाम हैं। सन् २००० में एक व्यक्ति के हिस्से में ०.३५ एकड़ कृषि योग्य भूमि आती है। इतनी कम भूमि पर आश्रितों की संख्या बढ़ती गई, तो आने वाले दिन अत्यंत कष्टप्रद होंगे। "द पोपुलेशन बम्ब" नामक पुस्तक में एलरिक और फ्रेमलिन नामक वैज्ञानिकों ने लिखा है कि विश्व की जनसंख्या इसी तरह बढ़ती गई, तो २०० वर्ष बाद धरती पर ६०० लाख अरब लोग होंगे। एक वर्ग गज जमीन पर १०० लोग रहेंगे। ऐसी स्थिति में पृथ्वी पर सभी जगह २००० मंजिली इमारतें खड़ी करनी पड़ेंगी, तब लोगों के आवास की व्यवस्था संभव होगी। पर्यावरणविदों के अनुसार स्वस्थ पर्यावरण के लिए ३३ प्रतिशत भूमि पर वन होने चाहिए, जबकि भारत की कुल ११ प्रतिशत भूमि पर वन हैं।

जल संसाधन की दृष्टि से अनुमानतः प्रतिवर्ष औसतन ४० करोड़ हेक्टेयर मीटर जल भारत में उपलब्ध है। ४ महीनों के मानसून में ३० करोड़ हेक्टेयर मीटर वर्षा का जल जमा हो जाता है। सरकारी आँकड़ों के अनुसार १५ से २० प्रतिशत लोगों को शुद्ध पेयजल उपलब्ध नहीं हो पाता । यदि जनसंख्या इसी तरह बढ़ती रही, तो पेय जल की बात तो दूर है, सामान्य जल के लिए भी संघर्ष होगा। औद्योगीकरण से वायु प्रदूषण तो बढ़ ही रहा है, कारखानों का कचरा जल संपदा को भी अनुपयोगी बना रहा है। जनसंख्या वृद्धि के कारण बेरोजगारों की संख्या बढ़ रही है। सरकारी नौकरियों की एक सीमा है और निजी उद्योगों का विकास पिछड़ी अर्थव्यवस्था के कारण नहीं

हो पा रहा है। देश में १५ प्रतिशत लोग पूर्ण बेरोजगारी की स्थिति में हैं।

उपरोक्त सभी परिस्थितियों के लिए जिम्मेदार कई कारण हैं, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण शासन की इच्छा शक्ति की कमजोरी है। जिन देशों ने जनसंख्या नियंत्रण में सफलता पाई है, वह राजनीतिक इच्छा शक्ति की बदौलत ही संभव हो पाया है। चीन, थाईलैंड और इंडोनेशिया की जनसंख्या शासन की दृढ़ इच्छा शक्ति के कारण नियंत्रित हुई है। जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करने के लिए चीन के प्रयासों से हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। सन् १९४९ की जनवादी क्रांति के उपरांत चीन एक अति पिछड़ा देश माना जाता था । ५० वर्ष के बाद आज उसकी गिनती अमरीका, जापान, जर्मनी, ब्रिटेन और इटली के बाद सबसे ताकतवर अर्थव्यवस्थाओं में की जाती है। इस देश ने जो उन्नति की है, उसमें सबसे ज्यादा योगदान उसकी जनसंख्या नियंत्रण नीतियों का रहा है। परिवार नियोजन की नीति के अंतर्गत विवाह की उम्र बढ़ाई गई, बच्चों के जन्म के बीच अंतराल बढ़ाया गया और बच्चों की संख्या एक तक सीमित रखना तय किया गया। जनसंख्या नीति को सामाजिक–आर्थिक विकास के लिए गंभीरता से लागू करने का संकल्प लिया गया। सबके लिए शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार सुनिश्चित किए गए। सभी सरकारी अधिकारियों के लिए परिवार नियोजन अपनाना आवश्यक बना दिया गया। हर व्यक्ति को परिवार नियोजन के प्रति शिक्षित करने की व्यवस्था और आवश्यक सूचनाएँ पहुँचाने की व्यवस्था गंभीरता से लागू की गईं। गर्भ निरोधक वस्तुओं और सुविधाओं को लोगों तक मुफ्त में पहुँचाया गया। लोगों का जीवन स्तर सुधारने का प्रयास किया गया। महिलाओं के प्रति भेदभाव खत्म करने का प्रयास किया गया। भ्रूण जाँच एवं महिला भ्रूण की हत्या के लिए कठोर कानून बनाए गए। बहुविवाह और दहेज पर पूरी तरह कानूनी रोक लगाई गई। विवाह की न्यूनतम उम्र लड़कियों के लिए २० वर्ष और पुरुषों के लिए २२

वर्ष रखी गई । वृद्धावस्था में असुरक्षा के कारण दंपत्तियों में अधिक बच्चे पैदा करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस भय को दूर करने के लिए वृद्धों के स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा के लिए कानून बनाए गए। सेवा निवृत्ति के बाद वृद्धों की चिकित्सा सरकारी खर्चे से अथवा निजी कंपनियों के द्वारा करने का प्राविधान किया गया। जिन वृद्धों के पास आय का कोई साधन नहीं है, उनके भोजन, वस्त्र, आवास, चिकित्सा और श्राद्धकर्म के खर्च की व्यवस्था की गई है। कानूनी तौर पर संतानों पर वृद्ध व्यक्तियों की जिम्मेदारी सौंपी गई है। एक बच्चे वाले परिवार को १४ वर्ष तक अतिरिक्त वेतन वृद्धि दी जाती है। बाद में वृद्धावस्था पेंशन भी मिलती है। एक से अधिक बच्चा पैदा करने वाले व्यक्तियों को ये सारी सुविधाएँ नहीं मिलती और उन पर अतिरिक्त कर लगाया जाता है। चीन द्वारा अपनाए गए इन कार्यक्रमों के कारण ६४ करोड़ बच्चों के जन्म को ३० वर्षों में रोका गया है। इन्हीं उपायों को देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार भारत में भी यदि लागू किया जाए, तो सफलता की आशा की जा सकती है।

राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण पर बहस चलती है, तो राजनैतिक इच्छाशक्ति के महत्त्व का कम ही उल्लेख होता है। जहाँ तक घोषणाओं और प्रतिबद्धताओं की बात है, सभी सरकारें जनसंख्या नियंत्रण के प्रति कभी गंभीरता नहीं दिखलातीं और यह समस्या कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और नौकरशाही में उलझ कर रह जाती है। यद्यपि जनसंख्या की समस्या के प्रति भारत में सोच का कभी अभाव नहीं रहा। परिवार नियोजन के लिए बजट में प्राविधान प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में बढ़ता ही गया, लेकिन संयम या प्राकृतिक उपायों के उपयोग में आशातीत वृद्धि नहीं हुई। बंध्याकरण या कौपर टी जैसे गर्भनिरोधक तरीकों के प्रति लोगों को प्रोत्साहित करने के लिए नकद राशि और अन्य उपहारों की व्यवस्था भी की गई। यह काम सरकारी तंत्र से करवाया गया। स्थानीय निकायों, जनप्रतिनिधियों या

अन्य स्वयंसेवी संस्थाओं की इसमें कोई मदद नहीं ली गई। परिणामस्वरूप जनकल्याण के लिए चलाए जाने वाले सरकारी कार्यक्रमों का हश्र हुआ और इस कार्यक्रम की भद्द पिटी। बंध्याकरण की कागजी खानापूरी हुई, प्रोत्साहन राशि अफसरों और सरकारी कर्मचारियों की जेबों में चली गई। मात्र कागजी आँकड़ों का प्रदर्शन हुआ और सरकारों ने अपनी–अपनी पीठें थपथपाईं। सन् १९७५ में आपात्काल की घोषणा की गई, जिसमें परिवार नियोजन को प्रमुखता दी गई, लेकिन परिवार नियोजन कार्यक्रम को बलात् बंध्याकरण का रूप देने के कारण जनता में नसबंदी के खिलाफ आक्रोश उपजा। उस दौरान ऐसी घटनाएँ भी सामने आईं, जिनमें लक्ष्य पूरा करने के लिए अविवाहित नवयुवकों को भी पकड़ कर जबरन नसबंदी कर दी गई। परिणामस्वरूप पूरी योजना इतनी बदनाम हो गई कि देश का पूरा जनमानस परिवार नियोजन कार्यक्रमों के खिलाफ हो गया। आगे आने वाली सरकारों ने इसी कारण परिवार नियोजन कार्यक्रम की जगह सामुदायिक स्वास्थ्य कर्मी योजना प्रारंभ की, लेकिन यह योजना सरकार की गैर जिम्मेदारी के कारण असफल हो गई।

पहले भी परिवार नियोजन के लक्ष्य बनाए जाते रहे, खर्च दिखाए जाते रहे और जनसंख्या बढ़ती रही। शासन के रवैये से पूरी दुनियाँ में यही संदेश गया कि हम बोलते ज्यादा हैं और करते कम हैं। नीतियाँ तो बना लेते हैं, लेकिन उन्हें लागू करने में असफल रहते हैं। यह देश का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि जहाँ दुनियाँ के कई देशों की जनसंख्या वृद्धि दर ऋणात्मक दिशा में जा रही है, हमारी गति आज भी काफी तीव्र है। यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि इसका कारण सरकार की इच्छा शक्ति और निर्णय क्षमता की कमी है। गरीबी उन्मूलन और महिलाओं के सबलीकरण द्वारा ही जनसंख्या को नियंत्रित करने की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है।

मुद्रक: युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा